UNIVERSAL LIBRARY
OU_180089
UNIVERSAL LIBRARY

मेघ-मल्लार

[१२ मौलिक कहानियाँ]

उषादेवी मित्रा

सरस्वती प्रेस बनारस

प्रथम संस्करण, दिसम्बर, १९४८
मूल्य २)

मुद्रक : श्रीपतराय, सरस्वती-प्रेस, बनारस कैंट,

विषय-सूची

१—प्रथम छाया	...	...	९
२—अतृप्त वासना	...	...	२०
३—मन का यौवन	...	...	३२
४—देश भक्त	...	...	४२
५—चातक	...	...	५०
६—कलाकार	...	...	६४
७—रहस्यमयी	...	...	७७
८—रूप का मोह	...	...	८७
९—उन्नीस सौ पैंतीस	...	...	१००
१०—ललिता की डायरी	...	...	११०
११—महान् की पूजा	...	...	११९
१२—बुलबुल	...	...	१२८

प्रथम छाया

'शिव-शिव' सृष्टि के परे वह गंभीर निनाद आकाश-पाताल को एकाकार कर रहा था।

श्यामल पर्वत के अन्तःस्थल में गुप्तेश्वर महादेव के मन्दिर के सिरहाने बादल का एक हलका-सा टुकड़ा झूम पड़ा था, शायद मन्दिर को आलिङ्गन करने की नीयत से।

पुराने वृक्षों की सबल शाखाएँ असीम स्पर्द्धा, अति आशा से अपने चिर नूतन दलेश्वर को बढ़ाती चली जा रही थीं। कदाचित् गगन के उस लोभनीय अंश को वे अपने बाहुओं में बन्दी करना चाहती हों—अनन्तकाल के लिए। मन्दिरपथ के दोनों ओर घुँघुचियों को डालें पके फलों की डाली साजे, सिर नवाये खड़ी थीं—अधीर प्रतीक्षा की आकुल सिहरन हर पत्तों की आड़ में दाबे, शायद मन्दिर-खोह के देवता को रसभरे फल लुटाना चाहती हों।

मन्दिर के पीछेवाले पर्वत-पथ के पेड़-पौधों में बैठे मखमली लाल कीड़े रेशम की चादर बुनते हुए आगे बढ़े चले जा रहे थे। गढ़मण्डला की रानी दुर्गावती के वीर अविनाशी पद-चिह्न को अनुसरण करते हुए, जो कि 'मदन-महल' राज-प्रासाद के भग्नावशेष से लेकर शिवजी के द्वार के बालू-कणों को आज भी पावन कर रहे हैं। उन कीड़ों के आगे वर्तमान और अतीत एकाकार हो रहा था। शायद वह कीड़े स्वभाव की नवीनता के दृष्टान्त हों।

प्रकृति ने गुलाल की पिचकारी मार दी। चहुँओर की लालिमा के भीतर माणिक की खान निकल आई—धीरे, बहुत धीरे, बादल के उस

टुकड़े पर। पृथ्वी ने अलसाई हुई आँखें मलीं। उषा ने अपनी विस्मित दृष्टि फेरी होली की रङ्गत से भरे बादल के उस विचित्र टुकड़े पर। विस्मय का समुद्र भर उठा दुनिया के कोने-कोने में। वह छिप रही काले पत्थरों की आड़ में। स्वर्ण चम्पा की वर्षा-सी हो गई।

हरी दूब के नरम गलीचे पर से उस अनोखी नारी ने आँखें खोल दीं। त्योहार की दीवट की-सी पावन दृष्टि से उसने चहुँओर देखा।

आकाश का वह स्वप्निल टुकड़ा उतर आया। छः सखियों ने अपनी अपनी डालियाँ सँभालीं। किसीने पीले रंग की साड़ी और आँधी के जालों से बुनी चोली उसे पहना दी। जूही-मल्लिका का हार किसी-ने पहनाया, तो कोई पानी की झारी से स्नान कराने लगी। किसीने बिजली जड़ी हुई टिकली पहनाई, ओस की बूँदों को आँचल में जड़ दिया और घास के बने रूमाल से मुँह पोंछा। पीले धान की बालें, गन्ने, सिंघाड़े आदि फलों की डालियाँ पैर-तले रख दीं। बैठने के लिए किसी ने कोहरे की चादर बिछा दी, तो कोई आम के मुकुल-जड़े वह हरे पत्तों का मुकुट लेकर दौड़ी। चाँद और सूर्य के हथफूल हाथोंमें पहना दिये, तारों की करधनी कमरे में लटका दी; समुद्रफेन की पायजेब पैरों में डाल दी। रानी हँसी। सखियों ने अपने-अपने शंख बजाये। रानी की वह मधुर हँसी शंख के गम्भीर नाद में गूँजने लगी। हर दिशा में संगीत-भरे जीवन की बूँदें चू पड़ीं।

राजकुमार ने अपनी विस्मित दृष्टि फेरी। हाथ की माला गिर पड़ी। गले की वह नरमुण्ड-माला एक दूसरे से टकरा गई। पहने हुए बाघाम्बर पर करोड़ों जुगनू चमकने लगे। खुले सीने पर का तीर-कमान लटक पड़ा। साँपों का मुकुट कुछ झुक-सा गया। गजदाँतों के कुण्डल चमक उठे। दृष्टि की कठोरता पर कोमलता की परछाईं-सी पड़ गई। पीठ पर की भारी झोली जमीन पर गिर पड़ी। मुसकान की पहली लकीर ओठों पर खिंच गयी।

(२)

'शिव-शिव'—सृष्टि के परे से नीलकण्ठ ने पुकारा—'शिव-शिव'। मोर केका-ध्वनि कर उठे। वृष के झुण्ड से निनाद उठा। भैंसों के गर्जन से गुप्तेश्वर के मूक पत्थर दहल उठे। शृगालों के चीत्कार से सन्ध्या ने अपनी ओढ़नी सँभाली। कोकिल के सुरीले स्वर से वन-उपवन मूर्च्छित-से हो गये। घोड़ों की हिनहिनाहट से तरु-वीथि काँपने लगी। गधों के विकट रव से झाड़ी-झुरमुट सिहर उठे। नीलकण्ठ राजकुँवर के सिर पर मड़राने लगा। मोर उड़कर रानी की गोद में बैठ गया।

मोर की केका-ध्वनि को आदर से रानी ने अपने बटुए में भर लिया और बाकी छः प्राणियों के स्वरों को सखियों ने अपनी-अपनी डालियों में भर लिया।

पर्वत-पहाड़, झाड़ी-झुरमुट शान्त हुए। रानी-राजा एक दूसरे की ओर देखने लगे।

'कौन हो तुम अनोखे?' सखी ने पूछा।

'और तुम मोहिनी?'—उस राजा के कुँवर ने उसीका प्रश्न दुहराया।

'रानी की सहचरी—यह हैं रानी-रूप।'

'रूपरानी! और मैं वन का राजा हूँ सजनी!'

'तुम क्या चाहते हो?'—रानी के कंठ में छत्तीसों रागिनी लोट रही थीं।

'तुम्हें—रानी-रूप को।'

रानी मुसकराई। वन-वीथि, शाखा-पल्लव, जीव-जन्तु मुसकरा पड़े। सखियों ने मुँह फेर लिया।

'अरे, अनोखे, सँभलकर बोल।' एक ने कहा।

'हजारों गये, हजारों आये।'—दूसरी के कंठ में कौतुक था तो तीसरी के स्वर में करुणा थी 'लौटो पथिक—लौट जाओ।'

'रानी की आशा छोड़ दो।' चौथे में हुकूमत थी।

'आदमी होकर तारों की माला पहनना चाहते हो, चाँद की सुषमा का तिलक लगाना चाहते हो?' पाँचवीं उसे परिहास से बेध चुकी थी।

'पहले अपने को इस स्वर्ग-अप्सरा के योग्य तो बना लो।' छठी ने कहा।

'मैं नहीं तो वह सर्वग्रासी प्रेम इस किन्नरी के योग्य निश्चय ही है। वह हँसा—विषादपूर्ण करुण हँसी। वह सब-की-सब हँस पड़ीं पवन के झोंके से बाजा लगाकर।

'हजारों गये, हजारों आये।'

'अरे अनाड़ी, लौट जा।'

'वह है सूर्य की दीप्तशिखा।'

'और चन्द्रमा की ललित आभा।'

'है वह इन्द्र का दुर्लभ पारिजात।'

'नहीं। वह है सुलभ दुनिया की खुशी।' वह बैठ गया वहीं उसी धूलिकण में। पागल पवन उसके सर्प-मुकुट से अठखेलियाँ करने लगा और नीलकंठ उसका स्वागत।

(३)

यद्यपि दिन का प्रकाश खोह के अन्दर नहीं पहुँचता था, तो भी धूप-दीप का स्निग्ध प्रकाश अवश्य ही था।

उस कच्चे दूध की नदी के भीतर गुप्तेश्वर शिव सचेत थे या अचेत, यह समझ सकना असम्भव-सा था।

छत्तीस रागिनियों का विचित्र हार पहने रानी उन्हें दूध से नहला रही थी। छहों राग सखियों के कंठ में छिपे हुए बैठे थे। सखियों ने अपने-अपने सुललित कंठ के मधुर आलाप से अचेतन पत्थर तक को चेतना दे दी। छहों राग मूर्त हो उठे।

गम्भीर सौम्य 'भैरव' राग के रूप से सब दिशाएँ छमछमा रहीं। ओस की शुभ्र बूँदें टपकने लगीं। झींगुर के मिलित कण्ठ का अपूर्व आलाप पृथ्वी के हृदय पर मूर्च्छित-सा हो रहा। जीवन की चेतना से चिड़ियाँ चहचहाने लगीं। शीत के मनोहर प्रातःकाल के पवित्र मुहूर्त में लाखों ऋषि परमात्मा की वन्दना में जुट पड़े। उन सबके आगे थे—वही बूढ़े भरत ऋषि, हाथ में था बड़ा-सा 'संगीत-शास्त्र-ग्रन्थ।'

षियों के शुभ्र उपवीत में भैरव की गम्भीर मींड़ें पछाड़ें खाने लगीं। उसकी गमक से उनका चन्दन का तिलक उज्ज्वल हो उठा, खड़ाऊँ दूध से धुल गईं, लम्बी जटाओं में गंगा बह चलीं और तुलसी-दल के नीचे नारायण आन विराजे। राजा का कुँवर चकित हो गया।

देखते-ही-देखते रात हो गई। उस गहरी रात में तारों के जत्थों को हटाता, चन्द्रमा को आड़ देता, ध्रुवतारा को गले से मिलाता, शुक्रतारा को नींद से जगाता और शरद्-ऋतु को अपनाता हुआ 'मालकोस' राग ने अपने करुण रव को जीव-जन्तुओं में भर दिया।

पचासों शंख बज उठे और करोड़ों घंटियाँ। नम्र, शान्त, विनीत पुजारी उस गहरी रात में रोदन-रुद्ध करुण-कण्ठ से अपने आराध्य को पुकारने लगा—

'अब ही कहाँ गये
अज नहीं आये—'

आकाश के तारे उसके साथी थे और पृथ्वी की सुप्ति एवं समुद्र का धीरज भी। राजा का पुत्र रो पड़ा।

तीसरी सखी 'हिण्डोला' को वसन्त के हरे पलने पर बैठा दिया। मधु-मक्खियाँ उसके स्वागत में जुट पड़ीं—अपने बसेरे के मधु को लुटा-कर। विचित्र रङ्ग की तितलियाँ नाचने लगीं। भौरों ने गुनगुनाना शुरू कर दिया। पुष्पों की मीठी महक से दुनिया की हर घड़ियाँ हँस पड़ीं। सबेरे की सुहावनी खुशी के झूले पर पवन झूलने लगा। बुलबुल-जैसा

मीठे स्वरवाला जीव तक हिण्डोला की मोहिनी तानों पर मोहित होकर अपने सुर को भूल बैठा। खुशी से राजा हँसने लगा।

अचानक चहुँओर लाली छा गई। 'दीपक' के नग्न, उग्र रूप को देखकर वह अचम्भे में आ गया। ग्रीष्म की भरी दोपहरी में, पागल हाथी पर मूर्तिमान दीपक की दीप्तशिखा से जल-वायु में एक अद्भुत वीरता-सी व्याप गई। गहरी लालिमा से हर दिशाएँ आच्छन्न हो गईं। अगणित घृत-दीप जल उठे। दीपक के गले का वह गजमोती का सफेद हार तब इङ्गुर-जैसा लाल हो गया। मुकुट पर अग्नि की करोड़ों चिनगारियाँ जलने लगीं। कितने ही चमकीले काले सर्पों की सृष्टि हो गई। वीर-रस से वायु मतवाला हो गया। तलवारें एक दूसरे से टकराने लगीं। मेवाड़ पहाड़ के उच्च शिखर पर राणा प्रताप की आँखों में खून उतर आया। तलवार बार-बार म्यान से बाहर होने लगी। चेटक अश्व उछल पड़ा।

राजपुत्र ने तलवार खींची। फिर दूसरे ही पल वह विस्मय से देखने लगा—उस सखी की साड़ी की छोर तक जल रही है, किन्तु उसके कण्ठ से दीपक की चिनगारियाँ वैसे ही तान से निकल रही हैं। भय से उसने आँखें बन्द कर लीं।

इस बार सन्ध्या की झिलमिली में बेल-पत्तियों की वर्षा हो रही थी। छोटे-बड़े बेल वृक्षों पर झूल रहे थे। सदानंद शिव स्वयं डमरू लिये विराजमान थे। उनकी सूखी जटाओं में गङ्गा, यमुना आदि तेरह नदियाँ लहरा रही थीं। और सप्त-ऋषि धूप-धूना-चन्दन लिये उन्हें घेरे खड़े थे। नन्दी-भृङ्गी के हाथों में थी धतूरे की माला। हेमन्त-ऋतु की विचित्र हरियाली में युवक "श्री राग" के तान-पलटे मूर्च्छित होने लगे। उस भक्ति-सरोवर में स्नान कर नीबू, नारंगी आदि के वृक्ष अनगिनती सन्तानों की माता बन बैठे। उस अनन्त सृष्टि में खड़ा राजा विस्मय के समुद्र में लहराने लगा।

सहमा चहुँओर अन्धकार हो गया। आकाश के नीचे मेघ दौड़ने लगे। आँधी और झड़ी की उस छठी सखी के आवाहन से वर्षा-ऋतु की गोद में 'मेघराग' का शुभ्र प्रकाश था। गंगा और यमुना के विशाल तट पर असंख्य गेरुवा-धारिणी योगिनियों का अपूर्व समावेश था। शंख की चूड़ियाँ और रुद्राक्ष की माला उनके भूषण थे। त्रिशूलों पर बिजली जड़ी हुई थी और माथे में रक्त चन्दन के टीकों पर सूर्य। उनके कण्ठ-निःसृत वेद-मन्त्र पृथ्वी-आकाश को शुद्ध-सुन्दर करने लगे।

राजा का कुँवर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। सखियाँ खिल-खिला पड़ीं।

राजा के सामने शिवजी का लिङ्ग था। पुजारिनी रानी, सखियाँ और वह मन्दिर गुप्तेश्वर।

राजा का कुँवर चल पड़ा—रानी के पीछे-पीछे।

'राजा का कुँवर, चला जा।' एक सखी ने कहा।

'अनोखा, घर लौट जा।'

'बावला राजा, घर जा।'

'अरे अनाड़ी, घर को लौट।'

'कितने आये, कितने गये।'

'भूलभुलैया में भटकते फिरे।'

'उनमें से मैं नहीं हूँ, देवि।' कुँवर ने कहा।

'तो क्या तुम प्रेम-खिलाड़ी हो?'

'नहीं। रूप-पुजारी।'—राजा के कुँवर ने उत्तर दिया।

'बिक्री क्या उसके पथ में है?'

'नहीं', हृदय के अन्तःस्थल में।'

'तो वह स्वरूप है?'

'नहीं। अरूप। अपूर्व।'

'क्या वह अभिसम्पात है?'

'नहीं, मन्दिर का शुभ आशीर्वाद।'
'वह है रानी और तुम राह-भिखारी!'
'वह है मेरी देवी।'
'तुम तो बड़े विचित्र हो।'
'और तुम सब जादू, विद्या में दक्ष।'
'वह जादू का अनोखा खेल नहीं था।'
'तो पहेली अवश्य थी।'
'नहीं, था वह सत्य।'
'सत्य?'
'हाँ, सत्य।'
'नहीं, झूठ।'
'सत्य—सत्य। वह सब रागों के रूप थे।'
'होगा भी।'
'कब तक बैठोगे, कुँवर?'
'जन्म और जन्मान्तर।'

(४)

'सखी—सखी, मेरी वह रागिनी की वैजयन्ती माला?' रानी रो पड़ी। सब दिशाएँ व्याकुल हो गईं और उनके आँसू की बूँदें पृथ्वी के कोने-कोने में व्याप गयीं।
'नीलकंठ ने ले लिया।'
'मेरा वह अनोखा हार?'
'नीलकंठ ने गले में डाला।'
'किसे सखी, किसके-किसके?'
'छहों रागों के गले में डाला।'
'सखी, मेरी वह छत्तीस रागिनी की मोहिनी माला?'
'रागों के गले में सोहनेवाला।'

'छत्तीसों ?'

'हाँ, छः-छः बाँट दीं।'

'सखी, उस निर्मोही ने ऐसा क्यों किया ?'

'उन्हें सर्वाङ्ग-सुन्दर करने के लिए, रानी !'

'उसके बिना मैं कैसे जीऊँगी ? मेरा हार ला दे सखी ! मेरा हार—मेरा वह कोकिला की तानों से भरा हुआ, वर्षा की बूँदों में बसा हुआ, चाँदनी-जैसा मीठा, पानी जैसा जीवन से हरा, दीपावली-दीप सा वह पावन हार ला दे सखी !'

'गया हुआ कहीं लौटा है ? वह जिसका था, उसे मिल चुका रानी ! दुःख खेद वृथा हैं।'

'झूठ सखी, गहरी झूठ। रागिनी की माला मेरी थी—वही सृष्टि के परे से।

'सच ! माता सृष्टि अवश्य करती है; किन्तु एक के अधिकार से अपने ही बटुए में उस सृष्टि को बन्द रखना उसका धर्म नहीं है और न वह रख ही सकती है।'

रानी ने दीर्घ साँस ली। उसके राज्य में वह गम्भीर साँस मँड़रा-सी रही। रानी उदास हो गई।

सखियों के मुँह की हँसी, आँखों की खुशी बुझ-सी गई। चारों ओर विषाद का समुद्र हिलोरें मारने लगा।

'स्नान करो रूप-रानी, सूख रही हैं नदियाँ।'

'मुरझा रहे हैं वन-उपवन।'

'स्वर को भूल रही है कोयल।'

'झुक रही हैं धान की बालें।'

'झर रही हैं गेहूँ की बालें।'

'मर रहा है अनोखा भिखारी।'

रानी मौन रही। झाड़-पेड़, पर्वत-पहाड़, नदी-नालों ने चुपकी साध ली—जीवन-भर के लिए।

'उठो विजयिनी !' राजा ने पुकारा।

उसने स्वप्निल आँखें फेरीं।

सखियाँ एक दूसरे की ओर देखने लगीं।

'रानी की आँखों में वह कौन-सी मोहिनी झाँक रही है ?'

'रानी के ओठों पर वह कौन-सी हँसी लोट रही है ?'

'वह प्रेम का प्रतिबिम्ब है।' राजा के कुँवर ने कहा।

'अरे मूरख, लौट जा।'

'आकर्षण करना उसने सीखा है, आकर्षित होना नहीं।'

'कितने आये, कितने गये।'

'बीच भँवर में डूबकर मरे।'

'मैं उनमें का नहीं हूँ सजनी !'

'तुम जादूगर हो।'

'प्रकृति का जीवन हूँ मैं, पुरुष सुखद नाम, प्रेम और सृष्टि मेरा दूसरा नाम है। मेरे बिना तुम्हारी रानी सम्पूर्ण नहीं हो सकती।'

'लाखों आये, लाखों गये।' सखियाँ हँस पड़ीं।

'रूपनदी में बहते फिरे।'

'युग-युगान्त तक प्यासे फिरे।'

'हठी, तू कहना मान।'

'मेरी बातें सुन दे कान।'

'हजारों आये, प्यासे गये।

'मैं दासी हूँ तुम्हारी।' रानी ने गले का हार कुँवर को पहना दिया।

'मैं तेरा पुजारी।' उसने उस मोहिनी को अपनी सबल बाँहों में खींच लिया।

प्रकृति खिलखिला पड़ी रानी के सिर पर।

'शिव-शिव।' नीलकण्ठ मँड़राने लगा राजा के सिरहाने। उस अपूर्व रुद्र और कोमल रूप के आगे सखियाँ हाथ जोड़कर खड़ी हो गईं।

सखियों ने विजय-भेरी बजा दी। आकाश, पाताल और पृथ्वी में मिलन का अमर संगीत गूँज उठा।

———

अतृप्त वासना

इजिप्ट के पिरामिडों का हृदय-भेदी दीर्घश्वास जम रहा आकाश के नीचे और तब रात की अँधेरी में चू पड़ता वह बूँद-बूँद कर धरती में।

इजिप्ट का वह छोटा शहर नींद से झुका हुआ था। मनोवैज्ञानिक श्रेष्ठ डाक्टर पिटर्सन उस विचित्र पुष्प-गुच्छ के सामने निस्तब्ध बैठा था। ड्राइंग रूम में सर्वत्र एक मार्जित रुचि थी।

उस निशीथ रात्रि में रूजवेल्ट जो विपुल मनोयोग से मित्र को खड़ा निहार रहा था,—इस बात की साक्षी थी एक मात्र वही सद्य-चयित, सुरभित पुष्प-राशि।

रूजवेल्ट हँस पड़ा—अनुच्च हँसी—"अब दुनियाँ यही समझे न कि प्राणी-जगत् को छोड़कर मिस्टर पिटर्सन पुष्प-जगत् के मनोवैज्ञानिक गवेषणा में मस्त हैं?" सुना उस स्वर को, उन शब्दों को पिटर्सन ने। चकित हुआ वह, सहमकर बैठा तब—"और मैं सोच रहा था वेल्ट, इस मनोविज्ञान-पहलू को केवल मन ही के लिए क्यों न छोड़ दिया जाय।"

उस व्यथित, आहत मुख को देखकर रूजवेल्ट चकित हुआ—"फिर वह मन की चीज तो है ही।"

"सो ठीक है। कहने का मतलब तुम समझे नहीं। उसे मन ही की चीज कहकर क्यों न रखी जाय? उसे लेकर इस तरह से छान-बीन किया ही क्यों जाय?"

"यौवन के अन्त में ऐसी वितृष्णा क्यों डाक्टर?"

पिटर्सन मौन रहा।

"तो फिर ऐसा समझूँ, कि संसार आज उस श्रेष्ठतर मनोवैज्ञानिक को खो रहा है ?"

"हानि क्या है ?"

"हानि नहीं है ? आज यह कैसी विपरीत, अशुभ वाणी सुन रहा हूँ ? संसार जिस विज्ञानवित् की चमकप्रद गवेषणा को देख-देखकर खुशी में फूल रहा है, उसे बीच रास्ते में निराश करना। सत्य को परदे की आड़ से निकालनेवाले पिटर्सन को खोकर विश्व की जो एक भारी हानि होगी, ईश्वर जाने वह हानि कभी पूरी होगी या नहीं। किन्तु फिर भी पूछता हूँ—हठात् इस वैराग्य का कारण क्या है ? यही फूल का गुच्छा ?"

"यह तोड़ा ? क्लाइव के शव पर रखने के लिए है। वहीं जा रहा हूँ।"

"शव—क्लाइव का शव !"

"चल बसा है वेल्ट, वह प्रसिद्ध रासायनिक, मेरा अंतरंग मित्र क्लाइव चला ही तो गया है।"

"कब ?"

"कल रात तक वह था। बारह बजे रात तक उसके साथ रहा। वहाँ बैठकर उसकी परेशानी की बातें सुन रहा था। क्लाइव ने मुझसे तो कभी कुछ छिपाया नहीं। ग़लती एक उसने ज़रूर की। नहीं-नहीं; शायद वह मेरी ही ग़लती हो। कल के पहले दो दिन उससे मेरी मुलाकात ही नहीं हुई। घर पहुँचने पर भी नौकर ने कह दिया वह घर पर नहीं है।"

"कहाँ गये थे ?"

"वहीं तो एक बात है। घर पर ही था।"

"तो !"—विस्मय से पूछा रूज़वेल्ट ने।

"विधिवक्र।" उसने कहा था—"पिटर्सन को छोड़ बाकी सबसे कह देना घर पर नहीं है!"

"क्यों?"

"घबराता था वह। परेशान।" क्लाइव जैसे आदमी का घबराना और परेशान होना! यह कैसी पहेली है डाक्टर! क्या आज तुम एक असंभव को भी विश्वास करने को कहते हो!"

"शायद ऐसी हो। साथ ही इस मनोवैज्ञानिक जगत् से पिटर्सन विदा भी लेना चाहता है।"

"पिटर्सन—पिटर्सन, होश में हो न तुम?"

"अब तक।"—संयत स्वर का उत्तर था वह।

"चलो।" रूज़वेल्ट उठकर खड़ा होगया।

"रात-भर मैंने जागकर ही काटी।" दीर्घ श्वास को हृदय में दबाकर कह चला पिटर्सन—"और जब एक निष्कर्ष निकाला—शायद सिद्धि मेरे हाथ लग चुकी, तब—ठीक वैसी ही घड़ी में चल बसा वह। सबेरे जाकर देखा उसके शव को।"

(२)

रासायनिक क्लाइव का रसायनागार। प्रकाण्डहाल। हाल में पहुँचकर रूज़वेल्ट विमूढ़—विस्मय से उन संचित ममी ही की भाँति पलकहीन रुद्धस्वर हो रहा।

विचित्रता उसके जीवन में आई नहीं, ऐसा नहीं। कभी विस्मय से परिचय हुआ नहीं, न यह बात सत्य थी। परन्तु विस्मय भी ऐसा विराट् हो सकता है—बात यह उसकी बुद्धि के बाहर थी। उसे समझ सकने में देर लगी कि वह वास्तविक सुप्त अवस्था में नहीं है। जो कि कभी सुनी कहानी थी—वही थी उसकी खुली आँखों के सामने। विद्युत्-प्रकाशित बृहद् हाल संगमरमर की अनेक वेदी, मनुष्य के शयन-उपयोगी कुछ काँच के अनेक गोल और चौकोर शवाधार। उन वेदी

और शवाधारों में संचित नग्न देह सुन्दरीगण,—जैसे कि पल-भर पहले भी वे उसी हाल में हास्य-कौतुक नृत्य करती-करती क्लान्ति से लेट रही हों और धीरे-धीरे उनकी आँखों में नींद भर उठी हो, पलकें ढँक गई हों।

"मिस्टर रूजवेल्ट।"—पिटर्सन ने उसे हिलाया।

"क्या देख रहे हो!"—पूछा पुनः पिटर्सन ने।

"सरगपुर।"

'नहीं, क्लाइव का रसायनागार।'

सम्मोहित की भाँति रूजवेल्ट उसका मुँह निहारने लगा।

पिटर्सन ने उसे फिर हिलाया--'होश में आओ। हम यहाँ पर आये हैं क्लाइव के शव को सम्मान देने। स्वयं शव बनने के लिए नहीं।'

और तब रूजवेल्ट की तन्द्रा टूटी-सी। वह सहमा, पूछा—'यही सब शायित सुन्दरीगण ममी है? इन्हें ही ममी कहते हैं।'

'इजिप्ट के पिरामिड और ममी जगत-विख्यात हैं। और यहाँ के अधिवासी तुम—तुम्हीं पूछो—क्या इन्हें ही ममी कहते हैं?'

'क्लाइव का मूल्यवान् समय क्या यहीं पर बीता करता था?'

'हाँ, और मूल्यवान् जीवन का भी यहीं पर अन्त हो गया।'—विषाद-खिन्न स्वर से बोला—

पिटर्सन।

'क्लाइव का मृत शरीर कहाँ पर है?'

'जल्दी मत करो। आगे बढ़ते चलो।'

धीरे-धीरे मित्रद्वय कमरे में आगे बढ़ने लगे।

'इन काँच के शवाधारों में कोई शरीर क्यों नहीं है! देखो, सिर्फ तरल पदार्थ भरा हुआ है।' कुछ खाली शवाधारों को दिखलाते हुए पूछा—रूजवेल्ट ने।

'यह? अभी केवल दवा ही है इनमें, इसी रसायन से मृत शरीर

सदा ताजे रहते हैं। दूसरे शवाधार जैसे नारी-शरीर से भरे हुए हैं; कुछ दिन के बाद यह भी इसी तरह भर दिये जाते।'

हाल के उस छोर में पहुँचकर सहसा पिटर्सन एक ममी के निकट स्थिर, अचल हो गया।

'क्या हुआ मिस्टर पिटर्सन ?' उत्सुकता से पूछा—रूजवेल्ट ने।

'वेल्ट, देख रहे हो न इस सुन्दरी को ? इसी ने......ही, इसने ही उसकी जान ली है।'

'इस मृत नारी ने ?' प्रायः चीत्कार कर ही पूछा—रूज़वेल्ट ने।

'इसी ने। यह जो शवाधार देख रहे हो, जिसमें आज वह पड़ी हुई है। यह शवाधार इसके लिए नहीं था। क्लाइव ने कहा था—यह विचित्र शवाधार और इसमें का यह अद्भुत रसायन उसने स्वयं अपने-आपके लिए प्रिजर्व कर रखा है। मौत के बाद वह ममी बनना चाहता था। और वह दूसरा शवाधार—जहाँ कि आज तुम स्वयं क्लाइव के शरीर को देख रहे हो, उसमें—अभी कल तक पड़ी सो रही थी—यही ममी!'

रूजवेल्ट ने देखा—आँखें फाड़-फाड़कर देखा—एक साधारण शवाधार में पड़ा हुआ है क्लाइव। और उस विचित्र गठन के शवाधार में है नारी-शव। रूजवेल्ट झुककर देखने लगा। देखते-देखते वह सिहर उठा। उस सदा प्रफुल्ल क्लाइव के मुख को पाया उसने—भय-शङ्का से विवर्ण। नेत्र जैसे आतङ्क से फट-से पड़ रहे हों। देर तक वह दोनों उस मुख को देखते रहे।

पूछा रूजवेल्ट नें—'उस ममी को तुमने इस शवाधार में पड़ी हुई अपनी आँखों देखा था ?'

'कई बार।'

'एक और विचित्र बात यहाँ देख रहा हूँ।'

'कौन सी ?'

'यहाँ मर्द के शव क्यों नहीं हैं ? सब ही स्त्री ममी क्यों हैं ?'

पिटर्सन हँसा—विषाद—खिन्न हँसी—'बस, एक मात्र यही तो थी उसकी दुर्बलता। उसी दुर्बलता ने उसे उठा भी लिया।'

'पहेली छोड़ो मिस्टर पिटर्सन।'

'सुनोगे? तो मैं भी किसी एक से कहना चाहता हूँ। और उसके बाद अपने निर्णय तक पहुँचना चाहता हूँ! परिणाम उस निर्णय का देखना चाहता हूँ। ठहरो, पहले दिवंगतात्मा की मुक्ति के लिए प्रार्थना कर लेनी है।'

और तब दोनों घुटने टेककर क्लाइव के शरीर के निकट बैठकर प्रार्थना करने लगे।

(३)

'मनुष्य मात्र में एक दुर्बलता रहती है। इसे विश्वास करते हो न?'—कहने लगा पिटर्सन—'यहाँ पहुँचकर उस बात पर तुम्हारी दृष्टि भी आकृष्ट हो गई है। परन्तु उसकी वह कमजोरी सद्गुणों को नहीं ढाँक पाई थी। गुलाब की गन्ध को यदि पवन लूट भी लेता है, तो उस लूटने से उसका गुण ढक नहीं जाता।' इसके बाद पिटर्सन चुप हो रहा।

जब देर तक पिटर्सन समाधिस्थ-सा रहा, तब रूजवेल्ट ने उसे हिलाया—'मिस्टर पिटर्सन!'। 'नहीं मित्र, मेरे लिए डरो मत। मन-विज्ञान की धज्जी बनानेवाला ऐसे सहज में क्लाइव की तरह मौत के फन्दे में नहीं फँस सकता है।'

'इस ममी की बात क्या कह रहे थे?'

'इसकी? इसी राक्षसी ने उसे मार डाला।'

'रहस्य क्रमशः गूढ़ हो रहा है—मेरे लिए मिस्टर पिटर्सन!'

'गूढ़? नहीं, मैं सुलझा जो दे रहा हूँ। बैठो इस वेदी पर।'

एक खाली वेदी पर दोनों बैठ गये। तब कहने लगा पिटर्सन—'वह

ममी अभी कल तक उस शवाधार में थी, जिसमें आज क्लाइव पड़ा हुआ है। उस एक दिन की बात। उस दिन जब मैं आया, तब पाया क्लाइव को घबराया हुआ। ज़िन्दगी में वही पहले वक्त मैंने क्लाइव को उस तरह घबराता, सुधिहीन-सा पाया था। वह खींचता हुआ मुझे यहाँ ले आया और इसी वेदी पर हम दोनों बैठ गये। उद्भ्रान्त-सा कहने लगा क्लाइव—'पिटर्सन, कल रात में एक अनहोनी बात हो गई।'—मेरे उद्ग्रीव, जिज्ञासु नेत्र के प्रति देखकर कह चला क्लाइव—'कल उस कोने में बैठा मैं उस रसायन को तैयार कर रहा था, जिसके तैयार हो जाने से शायद दुनिया में एक युगान्तर उपस्थित हो जाता। एक्सपेरिमेन्ट कर देख चुका हूँ, और शायद इस बार मैं सफल रहूँ। वह रसायन!—हाँ, उसे बना रहा था मैं। रात बारह बज गये होंगे। खस—खस—खस, ठीक मेरे पीछे आवाज़ आई। लौटकर जो कुछ देखा उससे हतवाक् रह जाना पड़ा। खड़ी थी वह ममी—अपनी मृत-शय्या को छोड़कर खड़ी हो गई थी—वह ममी ठीक मेरे पीछे। मैंने देखा और फिर देखा, आँखें मल-मलकर देखा, थी वही ममी। देख रहे हो न उसे? वही थी। मुझे चक्कर-सा आ गया। सबेरे उसे फिर उसी आधार में पाया। कहो, वह क्या था?'

'ऐसा और भी कभी हुआ था?' मैंने पूछा।

'नहीं।'

'तो इस हाल को तुम बन्द रखो। मुझे कुछ दिन सोचने का वक्त दो।'

इसके बाद दो दिन शान्ति से बीते। तीसरे दिन सोते से नौकर ने जगाया। क्लाइव ने जल्दी बुलाया था। पहुँचा यहाँ। क्लाइव मुझे वहीं लेकर आया। देखा, ममी को इस आधार में। क्लाइव कहने लगा—'कल मैं फिर भी रसायन बनाने बैठा था। आधी रात निकल चुकी थी। और पीछे यही ममी आकर खड़ी हो गई थी।'

'तब?' आतंक से मैंने पूछा।

'तब होना ही क्या था ! शायद वह मेरी ही भूल होगी। उस शवा-धार और शव में शायद मैंने ही ज्यादा--हाँ, जरूर उस रसायन को ज्यादा डाल दिया होगा। तभी ऐसा अनियम हो रहा है। तब पकड़ा मैंने उसे। कैसी ज़िन्दगी ! मुर्दा तो मुर्दा। उठाकर उसे इस शवाधार में डाल दिया। कोई हँसी-मज़ाक तो है नहीं, यह मैंने अपने लिए तैयार किया था। इससे निकल भागना कोई हँसी-खेल तो है नहीं।'

मैं मुस्कराया—'क्लाइव इन दिनों शायद तुम स्वप्न ज्यादा देखते हो। ममी—याने मुर्दा—जिसे मरे कई वर्ष बीत गये हों, वह भी कहीं उठ-कर चला-फिरा करते हैं ?'

'नहीं मेरे मित्र, बात सच थी। वह स्त्री उठी थी ! एक दिन नहीं, कई दिन मैंने इसे उठते देखा। बस यही स्त्री है, दूसरी नहीं। कोई बात नहीं, अब यह कभी भी न उठ सकेगी। फिर भी मेरे मित्र, मेरी परेशानी बढ़ती ही जाती है।'

'क्यों ?' एक उत्कंठा से मैंने पूछा।

'दुनिया हँसेगी, इन बातों को कहने से अवश्य दुनिया क्लाइव को पागल कहेगी। लेकिन मैं जानता हूँ, विश्वास करता हूँ मित्र, तुम ऐसा नहीं समझोगे। और अपने मनोविज्ञान की सहायता से इस रहस्य को खोज निकालोगे। कई माह बीत गये इस बात को।'

'कौन-सी बात ?' अधीर आग्रह से मैंने पूछा।

'वह शवाधार—जिसमें कि कल तक यह ममी पड़ी हुई थी, बस यही शवाधार है—जो कि मुझे अपनी ओर खींचता रहता है। और विस्मय नहीं कि एक दिन मुर्दों को ममी बनानेवाला रासायनिक क्लाइव जीवित अवस्था में ही उस शवाधार में सो रहे।'

मैं सिहर उठा।

वह हँसा—'तुम चौंक रहे हो पिटर्सन ?'

मैंने जबरन हँसना चाहा, बोला—नहीं तो। यह सब तुम्हारे मन

की भ्रान्ति है। परन्तु अब कहने में कोई हानि नहीं है मिस्टर रूजवेल्ट, क्लाइव के सामने—आपके लिए शवाधार बनाने का तात्पर्य तब समझ कर मैं विवर्ण हो गया। उसने अपने लिए शवाधार बनाया। शायद इसमें तुम कुछ भी असाधारणत्व को खोजकर न पाओगे।

'बात तो साधारण-सी है मिस्टर पिटर्सन।' कहा रूज़वेल्ट ने।

पिटर्सन मलिन हँसा—'वह एक अदृश्य स्पर्श था, हाँ—उसीका—जिसने कि क्लाइव से यह शवाधार बनवाया।'

'तब ?' पूछा रूजवेल्ट ने।

कहने लगा क्लाइव—कल से इस शवाधार का आकर्षण इतना बढ़ गया है, इस ममी को स्थानान्तरित करने के बाद से कि मैं अपने को रोक नहीं सक रहा हूँ।

मैं उठकर खड़ा होगया ? बोला—बस, अब वक्त बर्बाद नहीं कर सकता हूँ। मुझे दो दिन का वक्त दो। इस रहस्य को सुलझाने के लिए सिर्फ दो दिन का वक्त। तुमने बड़ी भूल की क्लाइव ! अपने जीवन की सब घटनाएँ ही जब तुमने अपने मित्र पिटर्सन से छिपाईं नहीं तब इस बात को छिपाये ही क्यों रहे इतने दिनों तक !

कहा क्लाइव ने—मैंने छिपाया नहीं। इधर तुम भी नहीं आये।

'मैं जरूर आता था, नौकर कह दिया करता था—वह घर पर नहीं हैं।'

'यह नौकर की ग़लती थी। केवल तुम्हें छोड़कर बाकी के सबको इन्कार करने को कह दिया था।'

'अच्छा तो मैं चला। परन्तु इन दो दिन तुम इस कमरे में आना नहीं।'

'कोशिश करूँगा।'

मैं घर पहुँचा और सारी रात मनोविज्ञान की गुत्थियाँ खोलता-सुलझाता रहा। क्लाइव के जीवन की प्रत्येक घटना को मैंने छान-बीन-

कर देख डाला। और जब उस एक ही रात के भीतर शायद उस गुत्थी को सुलझा भी चुका तब ? तब वह चल बसा ! पाया मैंने उसका शव अव्यवस्थित भाव से इस शवाधार में।

'तो मिस्टर पिटर्सन, मनोविज्ञान का वह अनोखा निर्णय क्या अब ढँका ही रह जायगा ?' रूजवेल्ट ने देर के बाद पूछा।

'निर्णय ? किन्तु मनोविज्ञान-जगत् से बिदा लेते वक्त पिटर्सन का शेष निर्णय पर्दे की आड़ में भी क्यों रहा रूजवेल्ट ? और फिर विदा बेला पिटर्सन भी तो देखना चाहता है न उसके दीर्घ दिन की गवेषणा, परिश्रम भ्रान्त है या अभ्रान्त ?'

और इसके बाद पिटर्सन उठा, क्लाइव के गृह से खोजकर चावल आदि ले आया। तब दोनों ने मिलकर क्लाइव के शव-सहित शवाधार को हटाया।

'अब ?' पूछा रूजवेल्ट ने।

'यहाँ खोदना है। देखना चाहता हूँ, मेरा निर्णय समूल है या निर्मूल ?'

'क्या यहाँ धन की आशा है ?' पथभ्रान्त पथिक की भाँति पूछा रूजवेल्ट ने।

तब प्रश्न-उत्तर का अवसर दिये बिना ही पिटर्सन स्वयं वहाँ खोदने लगा। अधिक परिश्रम भी न करना पड़ा। निकल आया एक धातु-निर्मित शवाधार।

रूजवेल्ट विस्मय से चीत्कार कर उठा। पिटर्सन का मुख वेदना से पीला पड़ गया। शवाधार में शायित उस तरुणी को देखा पिटर्सन ने।

ममी बनाने की चेष्टा उस शव पर अवश्य की गई थी। परन्तु बनानेवाला वहाँ अकृत-कार्य था। वह शव कुछ विकृत-सा होने लग गया था।

'कोई सुन्दरी नारी का शव है।' रूजवेल्ट ने कहा।

पिटर्सन गहरे विचार में लीन था।

'इसे तुम जानते हो?'

'नहीं।' पिटर्सन ने कहा।

'इसे यहीं ढाँक दिया जाय?'

'नहीं, इसीके लिए संसार ने आज क्लाइव को खोया है।'

'इसीके लिए? पिटर्सन—पिटर्सन।'

'हाँ—यही मेरा अनुमान है और है मनोविज्ञान का निर्णय। इसे बाहर निकालो।'

'जमीन के अन्दर इसे रखने का क्या अर्थ हो सकता है?'

'शायद क्लाइव का यह एक्सपेरिमेण्ट हो। शायद ममी बनाने से पहले जीवित को लेकर ही रसायन को परखा करता हो—उस जीवित शरीर पर।'

रूजवेल्ट सिहर उठा—क्या जीवन को लेकर क्लाइव ऐसा खेला करते थे?

'खेलना? नहीं, एक्सपेरिमेण्ट कहो। कदाचित् यह एक्सपेरिमेण्ट हो। उन्नति का चरम उत्कर्ष शायद एक्सपेरिमेण्ट से होता हो।'

'तो इस शव को हाल के किसी दूसरी जगह पर गाड़ दूँ?'

पिटर्सन हँसा-क्लिष्ट हँसी—'कहाँ खोदोगे? मेरा अनुमान है, इस हाल के नीचे ऐसे अनेक नारी-शव विद्यमान होंगे। इस शव की जगह यहाँ नहीं हो सकती है। इसे बाहर गाड़ दो।'

'परन्तु मिस्टर पिटर्सन! पहले मैं आपका निर्णय जानना चाहता हूँ इस स्त्री ने मौत के बाद उसे कैसे मारा?'

पिटर्सन ने शान्त नेत्र उठाये—'यह कोई व्यक्ति-विशेष पिटर्सन की बात नहीं है, निर्णय नहीं है—उस नारी-जीवन को लेकर रसायन-गवेषणा करते समय इस नारी का प्रेम क्लाइव पर समा रहा हो। और तिल-तिल में उसकी मौत आती जानकर भी, या तो उस बात को न

जानकर ही उसका प्रेम क्लाइव पर दृढ़ हो गया होगा। और मौत के समय तक वह इसकी चिन्ता करती रही होगी। या तो इस अतृप्त प्रेम की यह तृष्णा व प्रतिशोध की वासना हो—जो कि मिट्टी के नीचे दबी ऊपर शायित ममी में समा रही थी! मनोविज्ञान का अनुमान ऐसा है कि यदि उस शवाधार से क्लाइव उस ममी को न हटाता तो शायद उसकी मृत्यु ऐसी जल्दी न भी होती। उस सूने शवाधार ने आखिर उसे खींच ही लिया। उस शवाधार ने नहीं, उसके नीचे शायित इस नारी ने।

इसके बाद पिटर्सन पुनः घुटने टेककर क्लाइव के शव के निकट बैठ गया।

देर के बाद वह उठा, पुष्प-गुच्छ उसके सिरहाने रख दिया। बोला—उस तरह कहने लगा पिटर्सन जैसे अपने आपको सुना रहा हो—'मित्र क्लाइव, तुम्हारे जीवन के अन्त के साथ-ही-साथ यह मनोवैज्ञानिक पिटर्सन भी मनोविज्ञान जगत् से विदा ले रहा है—सदा के लिए। 'पिटर्सन की वास्तविक बात सच है? परन्तु फिर भी मैं पूछना चाहूँगा—क्यों?' क्योंकि उस स्वच्छ दर्पण का देखने में जिस तरह का दुःख, व्यथा...जो कि वैज्ञानिक के लिए शेष बचता है, मिलता है, मेरे विचार से इससे बहादुर दुनिया में और कुछ नहीं रह सकता है। सत्य का नग्न रूप—नहीं, मैं और उसे देख नहीं सकता, कह नहीं सकता हूँ।

———

मन का यौवन

(१)

शिशिर-सिक्त पौष के अवगुण्ठन से बूँद बूँद कर शीत पृथ्वी पर चू रही थी। और वायु का चाञ्चल्य सूर्य-किरण में रम-सा रहा था—समाधिस्थ योगी-सा।

उस दिन युवराज चद्रापीड़ गुरु-गृह से दीर्घ-कालीन अध्ययन शेष कर प्रासाद में लौटा। आम्रपल्लव एवं मंगल-घट लिये अन्तःपुरचारिणी सुहागिनियों ने कुमार का स्वागत किया। प्रजागण ने यथायोग्य उपहार ले कुमार की संवर्द्धना की। महाराज ने अश्वशाला से श्रेष्ठ अश्व एवं वंश की विख्यात तलवार पुत्र को भेंट की। मित्रों ने नानाविध सामग्री ले युवराज को तृप्त किया। रानियाँ पुष्प की वर्षा करने लगीं।

उस आनन्द-मेला में परितृप्त, आनन्दित चन्द्रापीड़ क्षण-भर के लिए आच्छन्न-सा रह गया। सबसे यथायोग्य सम्भाषण कर उसने अन्तःपुर में प्रवेश किया। माता-विमाताओं ने प्रणत पुत्र को हृदय से लगाया। दीर्घ विच्छेद के बाद मिलन अमृत-सा रहा।

स्नान-भोजन से निवृत्त चन्द्रापीड़ दोपहर में विश्राम में मग्न था, तब विलासवती का श्रेष्ठ उपहार लेकर भृत्य पहुँचा। उस उपहार को देखकर चन्द्रापीड़ स्तब्ध, विमूढ़-सा रह गया।

उपहार? उपहार ही तो रहा। कुमार ने देखा—वर्षण-विरत मेघ से मानो पूर्णचन्द्र निकल आया हो। अपराजिता-सी लज्जा, वसन्त-उत्सव-सी अनुपम सुन्दरी सामने खड़ी है।

कुमार को लगा, मानो राज-उद्यान के प्रत्येक पुष्प ने अपनी सुरभि

बूँद-बूँद कर उस नारी के शरीर में भर दी हो। हाथ में हीरक-वलय, कान में हीरक-कुण्डल, ललाट में श्वेत चन्दन की बिन्दी उस सुकुमार शरीर को सुन्दरतर बना रही थी। छोटे मस्तक पर बड़ा-सा जूड़ा एक अरूपता का सन्देश दे रहा था।

भृत्य ने कहा—माता विलासवती ने इन्हें आपकी ताम्बूल-कर-कङ्कवाहिनी-स्वरूप भेजा है।

'ताम्बूल-वाहिनी ? यह स्वर्ग-विद्याधरी मेरी ताम्बूल-वाहिनी !'—मानो अपने आप कुमार कह उठा।

'हाँ श्रीमन्, माता का और भी आदेश है—इनका आप सामान्य ज्ञान से अमर्यादा कभी न करें। आप इन्हें अपने अन्तरंग मित्र-सा, सुहृद्-सा देखें। इन्हें महादेवी ने सन्तान-सा पाला है। ये पराजित कुलुलेश्वर की कन्या पत्रलेखा हैं।'

'माताजी की आज्ञा पालित होगी।'

'कुमार दीर्घजीवी हों। उन्होंने और भी कहा है—कुमार इन्हें ऐसे कामों में नियुक्त करें, जिनसे इनकी मर्यादा की हानि न हो।'

भृत्य प्रणाम कर चला गया और पत्रलेखा एक विनीत आज्ञाकारिणी-सी कुमार की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ी रह गई। एक आमोद, एक कौतुक से कुमार ने पुरुष-सहचरी उस अपरूप रूप-यौवनवती नारी की ओर देखा, फिर इच्छा-अनिच्छा से कह उठा—'तो तुम पत्रलेखा, मुझे अपना एक विश्वस्त सहचर समझो, शुभचिन्तक जानो। द्विधा-संकोच बिलकुल न करना। बैठ जाओ। खड़ी कब तक रहोगी ? प्रभु-भृत्य ? नहीं-नहीं लेखा, तुम तो मेरी सहचरी हो और मैं हूँ सहचर, समझीं ?'

राजकन्या पत्रलेखा अपने विडम्बित भाग्य की लिपि इन दीर्घ दिनों में भली-भाँति जान चुकी थी। यद्यपि एक दिन वह राजकन्या थी, उसकी सेवा में दासियाँ तत्पर रहती थीं, यद्यपि एक दिन उसकी अनेक

सहचरियाँ थीं, यद्यपि एक दिन भविष्य के सुख-स्वप्न में रंगीन लता-गुल्म लगा करते थे, यद्यपि राज्यच्युत पिता की पुत्री पत्रलेखा—स्थिर-धीर पत्रलेखा को अपनी भाग्यलिपि जान लेने में भ्रम भी न हुआ था; परन्तु, तथापि आज जब उसके द्वार पर पुरुष के साहचर्य की पुकार पहुँची, तब जाने वह कैसी विमूढ़-सी हो रही। चाहे यह उसके भाग्य का परिहास रहा हो, चाहे यह उसके अदृष्ट का सौभाग्य रहा हो, परन्तु वह सहचरी बनी—रानी की नहीं, बालिका की नहीं, वृद्धा की नहीं, युवती की नहीं; बना दी गई वही सहचरी श्रीमान् युवक की: राजपुत्र की, हाँ—एक पुरुष की सहचरी। युवती नारी—वह बना दी गई पुरुष की सहचरी।

अखण्ड-विस्मय से पत्रलेखा विचार उठी—उस विचित्र, विद्वान शिल्पी की तूलिका में चाहे कैसी ही विद्वत्ता, चमत्कारिता, चाहे कैसी भी सृष्टि, नूतनता भरी हो, किन्तु सहृदयता, स्नेह का वहाँ पूर्ण अभाव है। नहीं तो एक नारी-जीवन को लेकर वह इस प्रकार से रहस्य न करता।

सहसा पत्रलेखा सहमी। विचारधारा को संयत कर उसने दृढ़ कर से कर्तव्य को उठा लिया। दुनिया को एक बार उसने अस्वीकार कर देना चाहा, अपने नारीत्व को भुला देना चाहा।

'कुमार, वायुसेवन की वेला टली जा रही है।' पत्रलेखा ने कहा।

स्मित हास्य से कुमार ने कहा—'चलो पत्रलेखा।'

(२)

परन्तु—न किन्तु, न परन्तु—किन्तु दो-ही-चार दिनों में पत्रलेखा विश्वस्त हृदय से कुमार की बन गई सखी। नहीं-नहीं, सखा। भूल, वरन वह बन गई—बन गई चन्द्रापीड़ की छाया।

और कुमार? हाँ—वह तो रह आया विश्वस्त-स्नेहशील सखा। विधिलिपि या भाग्य-लिपि, सो कौन जाने? नारी और पुरुष के बीच की मिष्ट लज्जा शायद उन्हें स्पर्श करते लजा जाती।

उस क्लिष्ट सखी-बन्धन का अपरिसर पथ बन गया प्रशस्त। दिन-रात कुमार के साथ पत्रलेखा छाया सी घूमती। प्रत्येक कार्य में कुमार उसका परामर्श लेता। हृदय की गोपन कथा सखी पत्रलेखा से कहता। और सबसे बड़ी विस्मय की बात तो यह है कि वह पुरुष के हृदयपार्श्व में जागी बैठी रही, किन्तु भीतर प्रवेश न कर पाई। शायद शिल्पी की अवहेलना रही हो, शायद निर्दयता रही हो। शायद—शायद नारी के प्रति अमर्यादा रही हो, या तो और कुछ रहा हो, या—तो-या-तो, पृथ्वी के मनुष्यों के मन की बात कौन जाने?

अन्तःपुर की सीमा-रेखा पत्रलेखा को एक स्वप्न-सी लगती।

कभी परिहास से उस सीमा-रेखा को देखती, कभी न देखती, अपनी सत्ता बिसर जाती। दिन उसके सुख से कटते। अपनी जय पर फूली न समाती। विजय-गर्व से दुनिया को देखती—एक अवहेलना से। दुनिया पर, प्रेम पर, नारी की सहज कुंठा पर वह जमी थी न? अपने उस वीर हृदय को कभी वह खुशी से निहारती।

'पत्रलेखा!' कुमार ने पुकारा।

उद्यान के पुष्प-पत्रों में सान्ध्य-पवन अठखेलियाँ कर रहा था। विचित्र वर्ण तितलियाँ प्रणय-क्रीड़ा में मस्त थीं। उस प्रेम-लीलापूर्ण उद्यान में विचरण करते हुए कुमार ने पुकारा—'पत्रलेखा!'

'युवराज!' युवराज के पार्श्व में विचरण करती हुई पत्रलेखा ने उत्तर दिया।

'दिग्विजय में चलने की व्यवस्था कर चुकीं?'

'सब प्रस्तुत है। मेरी और आपकी तलवार तक।'

'मैं सोचता हूँ लेखा, कि विश्व में इस जिगीसा के सिवा और कुछ है या नहीं?'

लेखा शान्त हँसी—यही तो मनुष्य का जीवन है और मनुष्यता है। बाहु और मन के बल का एकत्र समावेश है मनुष्यश्री। राजा क

धर्म है देशों पर विजय पाना। हिन्दुस्तान के एकछत्र सम्राट् जिस दिन हो सकोगे युवराज, उस दिन तुम्हारे प्रश्न का उत्तर अपने-आप मिल जायगा।'

'ठीक है। किन्तु फिर भी कभी विचार उठ पड़ता है। पृथ्वी में रक्त की नदी बहाकर जो विजय है, उसमें सार्थकता कौन-सी है?'

'विजय का विचार ही वीरता है। है वही वास्तविक मनुष्यत्व, और बहते रक्त का कुत्सित चिह्न तक उस वास्तविकता में निश्चिह्न हो जाता है।'

'समझा पत्रलेखा! किन्तु यदि फिर भी कभी ऐसा प्रश्न मन में उठे?'

'तो उस प्रश्न का उसी वक्त गला दबा देना मनुष्य का धर्म है।'

दिग्विजय में जाने के लिए चन्द्रापीड़ की सेना प्रस्तुत थी। रण-यात्रा के लिए सज्जित हस्ती उपस्थित था। कुमार के बैठने की देर थी।

कुमार मित्रों के साथ आगे बढ़ा, छाया-सी पत्रलेखा साथ में। युवराज के अन्तर में थी जय की अधीर हँसी, और नेत्रों में वीरता का गाम्भीर्य।

बेला टली जाती है युवराज।'—पत्रलेखा ने कहा।

युवराज मुसकराया—सूने हाथी पर कैसे बैठूँ? अपना स्थान ग्रहण करो लेखा।

पत्रलेखा हाथी पर बैठी और उससे लगकर बैठ गया चन्द्रापीड़। रात के सपने में पृथ्वी जब सन चुकी, तब अपने शिविर में विचरण करते हुए चन्द्रापीड़ के नयनों में स्वप्न की एक हलकी छाया भी न पड़ पाई। युद्ध की उन्मादना में उन्मत्त उसके चित्त में अनायास ही सुन्दर तन्वी का मुख झाँकने लग गया।

कादम्बरी—तापस-कुटीर की शांत श्री-सी कादम्बरी युद्ध शेष होने के बाद रानी बनकर मेरे वाम पार्श्व में बैठेगी। वह विचारने लगा—सखी पत्रलेखा निद्रा में अचेतन है, परन्तु अपने हृदय में मैं अब इस

व्यथा को रोक नहीं सकता। तो उसे जगा क्यों न लूँ? उस-सी हमदर्द।' बुद्धिमती है ही कौन?—चन्द्रापीड़ पत्रलेखा के पास पहुँच गया, उसीके शिविर में स्वतंत्र शय्या पर निद्रित थी पत्रलेखा। उसके परिधेय वस्त्र शरीर से हट गये थे; और नारी के उन अनावृत्त अङ्गों के रूप रण-शिविर में भी एक मादकता, तन्द्रा-सी फैला रही थी। चन्द्रापीड़ के नेत्रों में शायद वह मादकता भरी, शायद न भरी। सहसा वह जोर से हँस पड़ा—'रणप्राङ्गण में यह प्रेम की कथा कैसी?' युवराज अपने-आपको व्यंग्य परिहास से विद्ध करने लगा।

हास्य के उच्च शब्द से पत्रलेखा की निद्रा टूट गई। विस्मय से उसने कुमार को देखा—कैसी वार्ता है कुमार?

'उन्माद की सखी!'

'उन्माद की? सो वह कौन-सा रहस्य है?'

'रणस्थली में प्रेम की भावना, प्रिया की चिन्ता उन्माद के लक्षण नहीं तो क्या हैं?'

लेखा मुसकराई—कादम्बरी की स्मृति ने रणस्थल में भी युवराज को पीड़ा पहुँचाई। सुख से सो रहो युवराज! कादम्बरी की चिन्ता युद्ध के बाद की जायगी।

'और सखी पत्रलेखा! मेरी वार्ता कादम्बरी तक एवं उसकी वार्ता मुझ तक पहुँचा भी सकती है!'

'अवश्य, किन्तु युद्ध के बाद।'

'मेरे कहने का तात्पर्य ऐसा ही था सखी! अभी क्षण-भर पहले जिस कापुरुष को तुमने देखा था, वह चन्द्रापीड़ नहीं था। वीर चन्द्रापीड़ तो तुम्हारे सामने खड़ा है।'

'हाँ देव, मैं इसी चन्द्रापीड़ को जानती हूँ और आजीवन इसीसे परिचित रहना चाहती हूँ।'

'ऐसा ही होगा सहचरी !'

उभय अपनी-अपनी शय्या पर गये।

(३)

युवराज चन्द्रापीड़ की प्रशंसा से देश छा-सा जाता। राजा-प्रजा सुखी रहते। वीर राजकुमार की जय-घोषणा से देश की वायु हलकी होती, निर्भावना से प्रजा सोती। कुमार के चित्त-विनोद के लिए नित्य नये आमोद की व्यवस्था होती। फिर भी कुमार चित्त में शान्ति न पाता। तब भी सहचरी पत्रलेखा कादम्बरी-वार्ता लेकर देश न लौटती। पत्रलेखा की प्रतीक्षा में कुमार के दिन-घड़ी-पलों का कटना कठिन होता। सहचरी के अभाव से आमोद-प्रमोद विरक्तिकर होते।

एक निर्जन मध्याह्न वेला में पत्रलेखा असीम उल्लास लिये कुमार के निर्जन कमरे में लौट ही आई।

उल्लास-आनन्द से अधीर कुमार आसन त्याग उठकर खड़ा हो गया। सम्मान से उसने सखी पत्रलेखा का आलिङ्गन किया। मानो देवी के हाथों की गन्ध से सुगन्धित प्रसाद को उसने श्रद्धा-सम्मान से माथे पर थाम लिया हो।

शायद नारी के इस स्पर्श से, रन्ध्रहीन इस आलिङ्गन से युवराज के कादम्बरीमय-युवक चित्त में विकार उपस्थित हुआ, शायद न भी हुआ हो, कौन जाने ?

और पत्रलेखा ? उसका युवती मन पुरुष के इस निविड़ आलिङ्गन से एक बार काँप उठा, शरीर तक कदाचित् वह कम्पन पहुँच सका हो ? वह किसी प्रकार बैठ गई। चन्द्रापीड़ के प्रश्नों का उत्तर भी उसने दिया—एक मशीन की भाँति।

× × ×

पत्रलेखा पीड़ित थी। अधीर कुमार सहचरी की परिचर्या के लिए मुक्त हस्त से धन व्यय कर रहे थे।

'पत्रलेखा, सहचरी लेखा!' गम्भीर वेदना से कुमार ने रुग्णा के सिरहाने झुककर पुकारा।

पत्रलेखा ने नेत्र खोलने की चेष्टा-मात्र न की। उसके मन में जो एक उन्माद जाग पड़ा था, उसीके अत्याचार से वह स्तब्ध थी।

नहीं, कुमार के उस स्पर्श के भीतर क्या था सो सहचरी लेखा नहीं जानती थी, और न उस बात को पुरुष सहचरी समझ ही सकती थी। यदि जानती थी तो इतना ही कि उसके शरीर की नसों में अचानक जो अग्नि की चिनगारियाँ जल उठी थीं, उनकी ज्वाला तीव्र होती जा रही थी।

कुमार चला गया।

गहरी रात में पत्रलेखा उन्मादिनी-सी उद्यान में विचरण करने लगी। उद्यान में पत्र-पुष्पों को छिन्न-भिन्न कर डाला। अपने शरीर की नसों को वह नोचने लगी। पुष्पित स्थलपद्म के निकट खड़ी होकर वह पूछने लगी—'कहो सखी, मुझे क्या हो गया है? यह अग्नि-सी ज्वाला, चातक की-सी तृष्णा इस मन में कहाँ से उभर आई! मेरे प्रत्येक रोम में यह कैसी ज्वाला धधक रही है?'

प्रातः की श्री-मण्डित वेला में दासी ने आकर कहा—वायुसेवन के लिए युवराज अभी आपको लेकर जायँगे।

पत्रलेखा ने उदास दृष्टि से दासी की ओर देखा।

(४)

'पत्रलेखा, यहाँ कुछ स्वस्थ हो रही हो? देखो, तापस-कुटीर की छाया में हरिण-शिशु कैसी सरल क्रीड़ा में मग्न है! कोकिला के स्वर में भक्ति साकार है। देख रही हो, सुन रही हो न लेखा?'—चन्द्रापीड़ ने कहा।

किन्तु लेखा तब क्या उत्तर देती? उसके मन में, शरीर में, प्रत्येक श्वास में वही ताण्डव नृत्य चल रहा था।

क्या मेरे मन का यौवन जाग पड़ा है ?—दीर्घ दिन के बाद लेखा के मन में प्रश्न उठा। वह सिहरी। न पत्नी, न प्रणयिनी, दासी भी नहीं। सहचरी-मात्र-पुरुष की सहचरी हूँ मैं। किन्तु यह परिहास कैसा ? पुरुष-सहचरी के मन का यौवन परिहास नहीं तो क्या है ? अब मैं मन के इस यौवन को किसके घर धरोहर रखूँ ?—विचार चली पत्रलेखा—यदि कवि इसे लेकर गान करना नहीं चाहता, यदि शिल्पी इसे लेकर उपहास करना ही चाहता हो, यदि इसे चित्रकार अङ्कित करना नहीं चाहता, और यदि दुनियाँ को इसे स्वीकार करना नहीं था, और यदि पुरुष-सहचरी पत्रलेखा भी इसे स्वीकार करना नहीं चाहती, तो मैं इसे—मन के इस यौवन को लेकर करूँ क्या ? इसे निकालकर फेंक दूँ ? किन्तु वह तो असाध्य है। और नारी की अमर्यादा ! कौन जानता था कि शरीर की उष्णता जब हिम-शीतल हो चुकी थी, तब हठात् एक दिन मन का यौवन जाग पड़ेगा ? सहचरी पत्रलेखा इसे अस्वीकार कर सके, किन्तु नारी पत्रलेखा तो इसे अस्वीकार नहीं कर सकती। चाहे यह यौवन पल-पल में जागा हो, और इसे अस्वीकार करने की शक्ति शायद उस दाम्भिक पुरुष-सहचरी पत्रलेखा में रही हो, परन्तु इस नारी पत्रलेखा में कहाँ है ?

एक आर्त चीत्कार उसके हृदय में उठ पड़ा—कहाँ ?—कहाँ ?

पत्रलेखा ने एक बार आकाश की ओर देखा, दूसरी बार पुष्पित लता-वृक्षों की ओर, तापस-कुटीर की ओर देखा और देखा चन्द्रापीड़ को। निराश-व्यथा से उसके नेत्र विस्मित-से हो रहे।—नहीं, नहीं, पुरुष-सहचरी के इस नव जाग्रत यौवन के लिए कहीं पर भी स्थान नहीं है, कहीं भी सम्मान नहीं है, कहीं भी स्नेह का कण, नहीं है। नहीं है विन्दु-परिमित सहृदयता-समवेदना।

'सखी पत्रलेखा !' आदर-सम्मान से पुकारा युवराज ने।

शून्य दृष्टि से पत्रलेखा ने उस ओर देखा।

'लेखा, क्या है ?' युवराज ने फिर पूछा।

वट में बँधा अश्व हिनहिनाने लगा। सामने की नदी बह चली, तापस-कुटीर पर संध्या की छाया घनी हुई।

'लेखा—सखी लेखा !' वैसी ही करुणा से पुकारा फिर चन्द्रापीड़ ने।

पत्रलेखा विचार चली—नहीं है, नहीं है ; पुरुष-सहचरी के नवजाग्रत मन के यौवन के लिए इस विशाल पृथ्वी में बिन्दु-परिमित स्थान भी नहीं है, सहानुभूति नहीं है।

'लेखा, पत्रलेखा !' पुनः पुकारा चन्द्रापीड़ ने। त्यक्त-विशेष दृष्टि से लेखा ने एक बार युवराज को देखा, फिर अश्व-पृष्ठ पर उचककर बैठ गई और दूसरे ही पल वह नदी के अतल में समा-सी गई।

असीम वेदना से चन्द्रापीड़ का स्वर मूर्च्छित-सा हो पड़ा—'सखी पत्रलेखा, ऐसा कठोर दण्ड मुझे किसलिए दिए जा रही हो ? जरा लौटकर मुझे समझाती तो जाओ।'

उत्तर ? हाँ, उस मूक नारी के मन का यौवन पृथ्वी के जल वायु में साकार हो उठा। केवल युवराज चन्द्रापीड़ शायद रह गया वैसा ही अन्ध-बधिर-सा। यद्यपि सहचरी ताम्बूल-कङ्कवाहिनी पत्रलेखा की स्मृति उसके मन में अङ्कित थी, किन्तु फिर भी शायद युवराज से नारी के मन का यौवन जानने की वार्ता रह गई गोपन ही।

देशभक्त

(१)

उसके चारों ओर यौवन का कम्पन हिलोरें मारता, जीवन की दीवाली आरती का थाल सजाती, उस प्रज्वलित अग्नि-शिखा के अग्रभाग में जैसे युग-युग की गाथा क्रीड़ाशील हो।

और अमीरअली—दरिद्रों-सा रहन-सहन, किन्तु अमीरों-सा मन लिए उस प्रज्वलित होली-कुण्ड की ओर दृष्टि निबद्ध किये सोच रहा था—उसी शिखा-सी ही बात को। यों ही वह रात थी—होली की एक रात, इसी तरह कमरे की खिड़की के सामने बैठा देख रहा था, वह पथ पर जल रही थी होली।। और तब पीछे सुन पड़ी वह लघु पदध्वनि, नूपुर-सिंजन-सी वह ध्वनि। उसने मुड़कर देखा-न-देखा। मधुकर-सी गुनगुनाई वह अबीर-रंगों-सी जरीना—'यहाँ छिपकर बैठी है तू कुल-सुम, और मैं तुझे खोजती फिर रही हूँ। अरे तुम-तुम!' एक ने दूसरे को देखा, निविड़ पलकों में घिरी नशीली आँखों से। कौन जानता था कि वही पल-भर का परिचय युग-युग के रन्ध्र-हीन, छिद्रहीन परिचय की परिचित लिपि को खोल बैठेगा?

बाहर जल रही थी होली की आग और ठीक उसीके सामने, खुली खिड़की के भीतर रुक गया था वह पलभर के लिए। एक शान्त, नीरव, अविच्छिन्न दृष्टि—लुट गया उस नीरवता में मन का प्राण निःशेष होकर।

और तभी उसी होली की आग-सी जल उठी वह जरीना अपने घर के कोने में—सब बाधा-विपत्तियों का नाश कर, प्रेम के प्रदीप में उसी होली की रंगत को भरे।

कौन जानता था कि करोड़पति की कन्या जरीना विरुद्ध शक्तियों की अवहेलना कर उस छोटे पल की मर्यादा को रख लेगी।

वह और जरीना—पथ के भिखारी को राजसिंहासन जैसे सपना ही है, वैसी ही बात थी। क्या वह जानता था कि उसकी तरह एक साधारण व्यक्ति की गृह-लक्ष्मी बन सकेगी—गन्धर्व-लोक की कन्या-सी जरीना—वही जरीना?

जरीना—उसकी जरीना, अभी तीन दिन भी पूरे नहीं हो पाए हैं कि जरीना उसकी बन गई है—उसकी, हाँ एकान्त भाव से उसीकी! अमीर की धर्मपत्नी जरीना और जरीना का पति अमीर।

उसके हाथ की मेंहदी में फाग का रंग समा जाता। उसके ओठ की गुलाबी पर गुलाब की गुलाबी लजा जाती, आँख के काजल पर विश्व का निविड़ अंधकार शरमा जाता। उसकी जरीना! प्रेम की कथा चुक न पाती, आँख को भाषा गुमना भूल जाती, रात की नींद भटकी फिरती, जरीना उसकी और वह जरीना का—जैसे एक अखण्ड कहानी हो।

अमीर खुली खिड़की को देखता, फिर सहमकर उठ पड़ता। इतस्ततः विक्षिप्त खुले ट्रंक-बकसों को देखता, मन में मुस्कराता—इस होली की शिखा ने स्मृति के झरोखे को ऐसा खोल दिया कि सफर की याद भी जाती रही। गाड़ी का वक्त भी निकट है। पर सामान लेना ही क्या है? देश की पुकार पर चल पड़नेवाले को सामान का करना ही क्या है? छोटा बिस्तर का बंडल और एक बैग बस होगा।

और फिर अमीर बैग में धोती, कुरते रखने लग गया।

(२)

एक विक्षिप्त आँधी-सी पहुँची जरीना—'तुम कहीं जा रहे हो?'

'मैं? हाँ जा तो रहा हूँ!' कहा अमीर ने।

'इन तीन दिनों में अघा गये! पुरानी हो गई मैं!'

विपुल विस्मय से अमीर ने पत्नी की ओर देखा। किस आघात एवं अन्तर्दाह से नवविवाहिता के मुख से ऐसी बातें निकल सकती हैं, इस बात का विचार कर वह सिहर उठा।

'पुरानी? किन्तु दाम्पत्य प्रेम भी क्या कभी पुराना हुआ है?— ज़रूरत ही ऐसी आन पड़ी।'

'मैं नहीं सुन सकती हूँ?'

'ज़रूर। कांग्रेस का अधिवेशन है, मैं वहीं जा रहा हूँ।'

'उस कांग्रेस में भाग लेने जा रहे हो, जो इसलाम की जड़ काटती है?'

अमीर शान्त भाव से हँसा—तुम गलती पर हो जरीना या तुम्हें समझानेवाले की गलती है। वह एक ऐसी संस्था है—जिसमें ऊँच-नीच, छोटे-बड़ों का विचार नहीं है। वह सबकी है और सब उसके हैं।

'तुम भूल में हो। वह सिर्फ हिन्दुओं की है।'

'नहीं मेरी रानी! वह राष्ट्रीय महासभा—भारतीय मात्र की है, सब जाति के लिए उसका दरवाजा खुला है। जनता की आवाज़ उसमें गूँजती है। जा रहा हू अपने भाइयों की आवाज़ में अपनी आवाज़ मिलाने के लिए।'

'काफिर की तरह यह कैसी बातें कर रहे हो? तुम उसे मानते हो?'

'जी-जान से। भारतवासी होकर उसे अस्वीकार करूँ भी कैसे? भूलती क्यों हो जरीना, अपना जन्म इसी हिन्दुस्तान में हुआ है न! और हिन्दुस्तान का निवासी मैं यदि उसका सेवक हूँ, तो इसमें अचरज की कौन-सी बात है?'

सिर हिलाती हुई जरीना मृदु-मृदु कहने लगी—

'मुझे विस्मय है।'

'किस बात पर?'

जरीना के पद्म-से सुकोमल कपोलों पर मधु की मिठास भर-सी उठी। वह कुछ कह न सकी। उसने लजीले नेत्रों को फेर लिया।

'कहो जरीना, शर्माना कैसा ? और मेरे ही पास ? मुझे लगता है जरीना, हम तुम एक हैं। बीच में न कोई भँवर है, और न रुकावट। कहो, क्या कहना चाहती हो ?'

'मैं तुम्हें पल-भर भी आँखों की ओट नहीं कर सकती। लगता है—मेरी साँस रुक जायगी, रो-रोकर मैं पागल हो जाऊँगी, मेरी आँखों की खुशी नष्ट हो जायगी, दुनिया के उजेले पर काला परदा पड़ जायगा, और तुम अपनी खुशी से मुझे छोड़कर चले जा रहे हो।' मेंहदी-से हाथों क मलती हुई धीरे से वह बोली।

'ऐसा ?' पल-भर के लिए उसने पत्नी की ओर देखा। तब बिस्तर बाँधता हुआ बोला—परन्तु जरीना, देश ने मुझे गोद में उठा लिया था पहले, तुम तो पीछे आईं। मुझपर पहले देश का अधिकार है, उसके बाद तुम्हारा।'

अथक भाव से जरीना उसे देखने लगी—यह व्यक्ति—जो अमृत से भरी वाणी उड़ेला करता था—उसके कान से लगकर मीठी-मीठी बातें किया करता था, वही व्यक्ति ऐसे कटु सत्य को विष की तरह उगलने कैसे लग गया ? कहाँ छिपाकर रखा था इसने इन निर्दयी, रूखे शब्दों को ?

पत्नी की ओर अमीर ने गम्भीर स्नेह से देखा—'दुःख मैं "तुम्हें पहुँचाना नहीं चाहता, जरीना !'

अभिमान से जरीना ने मुँह फेर लिया।

बिस्तर बाँधना छोड़कर अमीर पत्नी के निकट पहुँच गया। बड़े आदर-प्रेम से उसे अपनी ओर खींचकर बोला—रूठ गईं ? कहीं दूर थोड़े ही जाना है, ८-१० स्टेशन के बाद ही तो है कांग्रेसनगर। बस-चार-छः दिन में लौट आऊँगा।'

'मैं भी साथ चलूँगी।'—एक हठी बालिका-सी वह बोली।

'चलोगी ?' उसने किंचित् विचार किया और कहा--तो जल्दी तैयार हो लो। वक्त कम है। परदे का प्रश्न है नहीं—न तुम्हें, न मुझे।

(३)

'मुसलिम-लीग ज़िन्दाबाद।'—उन्मत्त मुसलमान लाठी ताने खड़े थे। आग भभक रही थी, मन्दिरों पर साबर पड़ रहे थे।

'कांग्रेस की जय' बोलते हुए कुछ हिन्दू भी लाठी फटकार रहे थे। मसजिदों पर हमले हो रहे थे। दोनों ओर झगड़ा पूर्ण तेजी से था। तीसरी ओर जैसे इन सबकी उपेक्षा कर उड़ रहा था फाग का अबीर।

'मसजिद के सामने बाजा बजाते, फाग गाते हुए हिन्दू निकले। खुद ही तो झगड़ा मोल लेते हैं।'—कोई किसीसे कह रहा था।

'यह सब इनके झगड़ा करने का बहाना है। हमारे हर त्यौहार को यह लोग इसी तरह फीका कर देते हैं।'—दूसरी ओर ये शब्द सुनाई दिये। और उन सबके बीच से निकला अमीर का ताँगा।

'मारो-मारो।' मुसलमान चिल्ला उठे।

हिन्दुओं का जत्था दूर था।

'ठहरो-ठहरो, कोई मुसलमान भाई है।'—किसीने कहा।

'हिन्दू है—देखते नहीं—किस बेपर्दगी के साथ जनाना बैठी है ? तुर्की टोपी लगाये हुए है सिर्फ हमें धोखे में डालने के लिए।'

'उतरो' किसीने कहा।

इतना कहने से पहिले ही अमीर उतर पड़ा था।

'तुम मुसलमान हो ?'

'हाँ !'

'तो हमारे काम में भाग लो।'

'इस झगड़े में ?'

'हाँ, लो हथौड़ी, मन्दिर तोड़ो।'

'पागल होगये हो! यह तुम क्या कर रहे हो?'

'चलाओ हाथ—चलाओ—चलाओ।'

'नहीं।'

'क्या कहा?'

'नहीं। यह मन्दिर एक भारतीय के वास्तविक प्रेम, प्रीति, श्रद्धा क सचाई का चिह्न, जिसमें कि दुनिया में रंगे हुए एक विराट् आत्मा व सिंहासन हो, उस अनन्त के प्रति जिसमें आदमी की श्रद्धा, पूजा, सम्मा बूँद-बूँद कर चू पड़ा हो,—चाहे वह मसजिद हो या मन्दिर; ऐसे प को मैं ही नहीं, किन्तु मनुष्य-मात्र नहीं तोड़ सकता है। ऐसा अधिका उसे है ही नहीं, हो भी नहीं सकता। नहीं तो आदमी की श्रद्धा ही व्य हो जाती है, उसकी सचाई में जान रह नहीं पाती है। मैं ऐसा नहीं व सकता। साथ ही तुम्हें रोकता हूँ। जिस दिन आदमी की सचाई लेव इस बात को तुम समझना चाहोगे, उस दिन तुम्हें अपने आप सम आ जायगी। और आज को इस बर्बरता के लिए तुम्हारी आत्मा लज का अनुभव करने लगेगी।'

'लम्बी-लम्बी बातें करता है। मार गिराओ इस नकली मुसलमा को।' भीड़ से आवाज़ उठी।

'मारो-मारो।'

'मारो इस समाज-द्रोही को।'

'खुशी से। अकेला मैं, पचासों तुम। कापुरुष की तरह यदि मार चाहो, तो मार सकते हो। समाज-द्रोही कहकर यदि मन को संतोष दे चाहो, तो कहो। फिर भी देशद्रोही तो मुझे न कह सकोगे।'

'ऐसी बात? तो लो।'

तनी हुई लाठी को किसीने पकड़ लिया—'यार, क्या कर रहे हो अपने कासिमअली के दामाद हैं।' कोई अमीर के निकट पहुँच गया।

धीरे-बोला—क्यों मुफ्त में अपनी जान दे रहे हो ? दो-चार हाथ मन्दिर में लगा दो। और चलते बनो।

'बिगाड़ूँ ? फोड़ूँ ?'

'हाँ-हाँ, बहरे हो क्या ?'

'मैं ऐसा नहीं कर सकता।'

'बस, दो हाथ लगा दो, इसमें अपना नुकसान ही क्या है ?'

'इन हाथों की ताकत बनाने के लिए है, बिगाड़ने के लिए नहीं।'

'तो मरो।'

'रास्ता छोड़ो, जाने दो।'

'मार गिराओ इस काफिर को।'

'जाने भी दो, कासिमअली का दामाद है।'

गाड़ी आगे बढ़ी। जरीना ने रोका—'ठहरो।'

'क्यों ?' विस्मय से पूछा अमीर ने।

'मोड़ो गाड़ी, मैं तुम्हारे साथ नहीं जाना चाहती।'

'जरीना—!'

'घर—मेरे बाप के घर मुझे पहुँचा दो।'

'परन्तु मैं ठहर न सकूँगा।'

'पहले मुझे घर पहुँचा दो, फिर जहाँ जी चाहे, चले जाना।'

क्षुब्ध व्यथा से अमीर ने मुँह फेर लिया। गाड़ी एक ओर चल पड़ी। पति के सामने पत्नी अड़कर खड़ी थी।

'तुम्हारे लिए मैंने सब कुछ छोड़ा, जानते हो न ?' जरीना पूछ रही थी।

'जानता हूँ जरीना !'

'किन्तु मजहब को नहीं छोड़ सकती।'

'ऐसा करने के लिए मैंने तो कभी अनुरोध किया नहीं।'

'ठहरो, सुनो। उस समाज-द्रोही के घर में भी नहीं रह सकती।'

एक व्यथा से, एक विस्मय से अमीर ने पत्नी को देखा। 'न मैं उस धर्मद्रोही को ही अपना पति कह सकती हूँ।'

इस बार अमीर मुस्करा पड़ा—वही तो बात है जरीना, धर्ममात्र के विद्रोह को मैं पाप समझता हूँ। जरीना अपनी धुन में कह चली—यदि मेरे लिए तुम्हारे मन में जरा-सी भी चाह हो तो—।

बाधा देकर अमीर बोला—हाँ, और—शायद कभी तुम्हारा मन चाहे, तो चली आना, दरवाजा खुला पाओगी, किन्तु देशद्रोही को देखने की आशा उस दरवाजे पर कभी न करना।

चातक

(१)

न वह राम था और न वह अयोध्या। स्वर्ण-लङ्का के सुवर्ण-सिंह-द्वार की समाधि समुद्र के अतल में हो चुकी थी। सोने के महल कलि के अभिशाप से ईंट-पत्थर में रूपान्तरित हो गये थे। हीरे-मोती के ढेरों को बानर चन्दन-वन में ले भागे थे; किन्तु फिर भी रावण की चिता की मौत न थी और न राम के वीरत्व की।

उस राज्य का छत्र राजा वासुदेव के सिर पर सोहता, इष्ट-मित्र निर्जीव-से बैठ जाते। सश्रृङ्खल राजकार्य, न द्वन्द्व था, न युद्ध। अमिट शान्ति सर्वत्र विराजमान थी। मन्दिरों में घण्टे-ढोल वैसे ही बजते रहते और देवता के पूजा-उपकरण में तिलमात्र त्रुटि न हो पाती थी; किन्तु फिर भी कहीं कुछ अभाव रह जाता। वह विमल आनन्द, अमिट खुशी एक सपना-सा लगती। किन्तु वासुदेव करते क्या? केवल अतीत की स्मृति हृदय में लिये सिंहासन पर बैठ जाते, इष्ट-मित्र घेर लेते। वृद्ध ऋषि उन्हें अतीत वैभव की कथा सुनाते।

परन्तु नित की भाँति उस दिन की राज-सभा प्राणहीन-सी न रहने पायी। उस सुन्दर बालिका के आगमन से सभा में एक उत्सुकता-सी जाग उठी। साथिन वृद्धा राजा के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गई—'चिरञ्जीव, देवद्वार में उत्सर्जित वसन्तिका को आपके मङ्गल-कर में सौंपने आई हूँ। वृद्ध राजा हतवाक् हुए—'मेरे कर में?'

'हाँ—राजाधिराज, आपके विख्यात शिवालय में। उसका जन्म देवदासी के लिए हुआ है।'

राजा का भारी श्वास हलका हो गया। एक कौतुक और नवीनता ने उनकी आत्मा को उज्ज्वल कर दिया—'इतने दिनों बाद?'—मानो वह अपने आपको कहते हों।

राजा बोले धीरे, किन्तु वृद्धा के कान तक वे शब्द पहुँच गये। वह कहने लगी—'फिर इसके पहले आती कहाँ से? अपनी दासी का जन्म तो उन्हें मेरे घर देना था न महाराज! बहू को सपना हुआ—उसकी बालिका नृत्य-गीत से देव-मन्दिर में महादेवजी की आरती कर रही है। सपना सुनकर मेरा लड़का हँसने लगा। किन्तु बहू और मैंने अपना विचार पक्का कर लिया। रात में इसे ले भागी। अब घर जाती हूँ, वसन्तिका आपकी शरण में है।'

वृद्धा उठी, नातिन को एक बार देखा, फिर चुपचाप चल दी। और बालिका नूतनों के बीच में भय-आतंक से बैठी रोने लगी।

राजा आनन्द-उल्लास से शिशु की भाँति मचल पड़े—तो यह समृद्धि, सुख का पूर्वाभास है?

वह स्थिर निश्चय पर चले गये—बस, इसी प्रकार धीरे-धीरे आगे जैसा सब कुछ हो जायगा। सुनी कहानी को अब मात्र कल्पना ही में उपलब्ध न करना पड़ेगा, उसके वास्तविक रूप एक के बाद एक करके आँखों के सामने आते रहेंगे। यह है ईश्वर का आशीर्वाद, अन्यथा इसकी आशा किसने की थी?

वसन्तिका परम आदर-सम्मान से नृत्य-गीत की शिक्षा पाने लगी। देवालय में उसका एक स्वतन्त्र निजी स्थान बन गया। प्रथम जीवन को वह प्रायः भूल गयी।

(२)

वृद्ध नगरी के हृदय में सुन्दरी षोड़शी जिस दिन कमल-सी खिल उठी, उस दिन मन्दिर में तिल समान भी स्थान न रहा। राजा से लेकर प्रजा तक वहाँ उपस्थित हो गये। अति साधारण वस्त्र पहने तपस्विनी-

सी वसन्तिका अपूर्व भाव-भङ्गी से शिवमूर्ति के सामने खड़ी हो गई। रूखी, लम्बी जटा से जलबिन्दु झरने लगे; गेरुए रंग की चुनरी के बीच गोल बाँह में सोने के मोटे कड़े और बाजूबन्द उस गुलाबी रंग की आभा में म्लान हो उठे। रूप देखकर पत्थर के शिव भी कदाचित् वाङ्मय-से हो गये। भक्ति-स्थिर नेत्र से वसन्तिका ने पहले शिव को प्रणाम किया, फिर राजा को प्रणाम कर वह तनकर खड़ी हो गई। उदासीन-सी उसने एक बार जनता की ओर देखा, कदाचित् नहीं देखा और प्रज्वलित दीप हाथों और सिर पर रखकर वह नृत्य-गीत में लीन हो गयी। दीपशिखा कभी उसके मुख पर आकर गिरती, मुख की रेखाओं से एक अपूर्व श्री विकीर्ण होती। आयत लोचन की दृष्टि में युवती का प्रेम नहीं, किन्तु दीपावली के पावन दीप-सी भक्ति-प्रेम से सनी एक हरी खुशी विराजती और रूखे केश उषा की लालिमा में लाल हो उठते।

मुग्ध स्तब्ध जनता ने उस दृश्य को केवल विस्फारित, प्रशंसित दृष्टि से ही नहीं देखा, वरन् उस दृश्य की झंकार ने उसके हृदय-मन को आच्छन्न-सा कर दिया और उसकी छाया उसके हृदय के रन्ध्रों में छवि-सी खिंच गई, कदाचित् सदा के लिए—अमिट रूप से, कदाचित् थोड़े दिन के लिए।

किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जिसे लेकर ऐसा आडम्बर, ऐसी प्रशंसा, मुग्ध विस्मय था, इतने हृदयों पर जो जयी थी, वह स्वयं इन बातों से अनजान थी—अनाग्रह, उदासीन, संन्यासिनी-सा अनासक्त भाव। मानो न वह किसीको लुभाना चाहती, न किसी पर जय पाना; वरन् एक सूर्यमुखी फूल-सी, देव-छाया में बैठी, पीत-वसन से मुँह निकालकर केवल वन्दना-गान से उन्हें ही स्नान कराना चाहती हो—कभी माता-सी, कभी कन्या-सी, कभी भार्या-सी, बस इतना ही।

उसकी जीवन-यात्रा थी साधारण, अति साधारण। मन्दिर के निष्ठा-

वान् वृद्ध पुजारी ने उसे शिक्षा भी उसी प्रकार की दी थी। विलासिता उसकी आँखों की स्वच्छ दृष्टि के आगे केवल कौतुक,परिहास को परिस्फुट कर देती थी। प्रातःकाल स्नान-शुचि होकर पूजा करती, दोपहर में मोटे चावल का भात खाती, रात्रि में दूध पी लेती, कभी फल-आहार करती। सोती भी उसी भाँति; कम्बल व चटाई पर। पहनने को दो-तीन वस्त्र ही उसके लिए यथेष्ट थे। उसके कमरे में न कोई दर्पण था, न कोई आराम; न चैन-विलासिता की कोई वस्तु। दर्पण में अपनी आकृति उसने जीवन में शायद ही देखी हो। शिवलिङ्ग, वृद्ध पुजारी, मन्दिर और उसके वृहत पुष्प-उद्यान ही थी उसकी दुनियाँ। कभी उद्यान में आकर बैठती, फूलों से बातें करती, पत्तों की मर्मर ध्वनि से हँस पड़ती, कभी बेला बजाकर गाती। पशु-पक्षी से उन रागों के रंग, रूप, रसों को पूछती और अपने-आप मुसकराती रहती।

हाँ, तो क्रमशः—नहीं, उस पहले दिन में ही वसन्तिका का रूप, गीत, नृत्य, देशवासियों के हृदय में अँक-सा गया। उसके नाम से लोग बावले बन बैठते। सन्ध्या के पूर्व से ही मन्दिर के सामने भीड़ लगी रहती और उस भीड़ को चीरती वसन्तिका चली जाती, भीरु बालिका सी नहीं, वरन् भारत की एकछत्र सम्राज्ञी-सी, कृष्णमाता यशोदा सी, चरण में जड़ता का कहीं लेश मात्र न रहता। वह जाती, नृत्य-गीत घण्टों होता, फिर भी जनता अतृप्त रह जाती।

(३)

वर्षा ऋतु अपने पल-पल के पद-चिह्न पृथ्वी के जलवायु, धूलि-कण में खाकर विदा हो चुकी थी, अब शीत-ऋतु आरम्भ थी। मोटा शाल ओढ़े वसन्तिका उद्यान में बैठी थी। बेला एक ओर रखा था। उसके नेत्रों में भोलेपन की खुशी के परिवर्तन में था प्रचुर विस्मय। सामने न-जाने कितने पार्सल रखे थे। उनमें से दो-चार खोले भी गये थे। वेलवेट केस को उसने खोल डाला। मूल्यवान नेकलेस की हीरक

ज्योति से उसकी आँखें चकरा-सी गयीं। जीवन में ऐसे सुन्दर भूषण वह पहली बार देख रही थी।

धीरे-धीरे सभी खोले गये। सेण्ट, रूमाल, अलंकार, पाउडर आदि के ढेर-से लग गये। समय बीतने लगा और वसन्तिका उन आकर्षक वस्तुओं के बीच बैठी ही रह गई—भटकी-सी, अनजान-सी। वह उन वस्तुओं को देखती थी और नहीं भी देखती थी। कभी लगता—वे वस्तुएँ उसके समाहित चित्त की समाधि को व्यस्त, त्रस्त, मथित एकाकार करना चाहती हैं और कभी लगता—उन सबके हाव-भाव, विलासिता, चाकचक्य का संन्यासिनी का नीरस त्रिशूल रुद्र नेत्र से तिरस्कार कर रहा है; व्यंग, परिहास से मुह फेरकर बैठ रहा है।

इसे गले में डालते हैं?—वह मन में कहने लगी—कैसा सुन्दर हार है। और ये चीजें? सबके साथ एक-एक कागजों पर कुछ लिखा भी तो है! क्या लिखा है—

देखो—'वसन्तिका देवी को स्नेह और आदर का उपहार।'

वे भेजनेवाले कौन होंगे? किन्तु मेरे लिए उनने इतना खर्च किया ही क्यों? फिर कहती—लिखा तो है स्नेह और आदर। वे मुझे स्नेह करते हैं, मुझे और मुझीको।

बात छोटी थी, किन्तु उस छोटी बात का माधुर्य उसे निगलने-सा लगा। उसके गालों पर लालिमा दौड़ गई। क्यों? सो तो वही जाने।

वह मुझे आदर और स्नेह करते हैं। बार-बार वह सोचने लगी। उसे जैसे एक नशा-सा हो गया।

परन्तु वह विचारती—परन्तु इन्हें लेकर मैं करूँ क्या? वह सब मेरे किस काम आयेंगी? मेरे लिए तो गेरुआ वस्त्र यथेष्ट है। मेरे शिव, मेरे सर्वस्व तो स्वयं योगिराज हैं। उनकी सेविका वसन्तिका को इन सबसे सम्बन्ध? नहीं, यह बात अच्छी नहीं! भला मुझ-सी देव-सेविका को, शिवदासी को यह सब उनने भेजा क्यों?

क्या वह जानते नहीं, मैं सेविका हूँ ? शिव की प्रिय सेविका ? फिर जानबूझकर इस परिहास की क्या जरूरत थी ?

नहीं-नहीं, मैं इन्हें फेर दूँगी। किन्तु इसके बाद भी वसन्तिका सोचती—वह कैसे होंगे, इन सबके भेजनेवाले ?

कदाचित् वह निरा कौतुक हो, केवल अनुसन्धित्सा हो ; परन्तु फिर भी वह कहती—वह कैसे होंगे ? मुझे वह आदर करते हैं और स्नेह।

माली ने आकर सन्देश सुनाया—कई व्यक्ति दर्शन-अभिलाषी हैं। विस्मय से वह माली का मुँह निहारती रह जाती, यदि भृत्य आकर सचेत न करता – राजकुमार अनन्तदेव उसके दर्शन-प्रार्थी हैं।

वसन्तिका अवाक् रही – उसके दर्शन के लिए अनन्तदेव भी दौड़े आते हैं। क्या वह सच ही देवी है ?

शिव की प्रिय पुजारिनी—हाँ, देवी तो है ही। निमेष में उसने प्रश्न को सुलझा लिया और सहमकर बैठ गई।

'अच्छा, ले आओ।'

आगन्तुकों ने उसे अभिवादन किया; किन्तु वसन्तिका ने उस ओर देखा तक नहीं, पूछा—'मुझसे आप सबका कौन-सा काम है ?'

केवल दर्शन।'—एक बोला।

'क्या मैं कोई देव-देवी हूँ ?'

उस रूक्ष परिहास को सुनकर आगन्तुक बैठने जाकर लौट पड़े। केवल कुमार अटल, अचल-सा बैठा रह गया। वह कहने लगा—'यदि मैं कहूँ कि तुम देवी हो वसन्तिका !'

अवहेलना करने जाकर भी उसकी आँखें एक बार उस ओर उठीं। इन्द्र-सा सुन्दर कुमार; किन्तु वह बार-बार अस्वीकार करने लगी—नहीं-नहीं, सुन्दर नहीं, कुत्सित कुमार, नीच, अभद्र। चाहे सुन्दर हो या असुन्दर, इससे मुझे सम्बन्ध ?

'नहीं महाशय, मैं देवी नहीं—देवदासी शिव की सेविका हूँ ।' कुमार हँसा—उच्च उदार हँसी—'किन्तु मेरी दृष्टि में तुम देवी हो। जगत की श्रेष्ठ सुन्दरी।'

सुन्दरी, रूप! यह उन्मत्त कहता क्या है? रूप-रूपसी; जगत् की श्रेष्ठ रूप-परी? किन्तु आज तक तो किसीने उसे ऐसी वार्ता सुनाई नहीं।

चाहे वह स्तुतिवाद हो, सारहीन प्रशंसा हो, स्तव-स्तुति हो, किन्तु उस अप्रत्याशित रूप से, हठात् पाने की खुशी को भी वह किसी प्रकार नहीं छिपा सकती थी।

पाना? पाना नहीं तो क्या, रूप-सम्राज्ञी का वह एक मात्र ज्योत्स्ना-शुभ्र सिंहासन तो अभी-अभी उसीके पैर-तले न्योछावर किया गया है न? चाहे वह संन्यासिनी हो, भिखारिणी, देव-सेविका; किन्तु रूप की उस श्रेष्ठ जयवेदी को हाथ में पाकर भी वह अवहेलना करती कैसे! एक ओर स्त्री-हृदय की रूप-प्यासी, प्रशंसा-मुग्ध एक छोटी बालिका सिर पीटने लगी और दूसरी ओर भक्तिमयी बूढ़ी देव-दासी गरज उठी—

'मैं देवदासी हूँ, गणिका नहीं, दूसरे पुरुष से बात करना, रूप-प्रशंसा सुनना मेरे लिए अपराध है; कुमार, आप चले जाइये।'.

'दूसरा पुरुष! तो तुम्हारा अपना कौन है?'

'शिव। मेरे पिता-माता, भाई-बहन सब कुछ वही हैं।'

कुमार जोर से हँसा—'झूठ, बिलकुल झूठ। ऐसा सोचकर अपने-आप से प्रतारणा करना है और मन को समझाना।'

दोनों कान दबाकर वह कहने लगी—नहीं, मैं यह सब कुछ नहीं सुनना चाहती। जाओ कुमार, आरती की बेला हो रही है।

'सुन्दरी-श्रेष्ठ वसन्तिका, क्या इस तुच्छ उपहार को तुम स्वीकार नहीं करोगी!'

हीरे के कड़े थे। वसन्तिका ने एक बार उस ओर देखा—फिर उसे उठाकर एक ढेले की तरह दूर फेंक दिया, बाकी उपहारों की भी वही दशा हुई।

अनन्तदेव मुसकराता एक ओर चल पड़ा!

(४)

वसन्तिका ऊब गई, रूप की प्रशंसा सुनते-सुनते वह विमुख हो बैठी। लोग कहते—वह रूपसी है--भारत की श्रेष्ठ रूपसी। किन्तु समझ न पाती। विस्मय से अपने अङ्ग के प्रति निहारती और रूप एक पहेली-सा रह जाता। वह अचम्भे में आती—लोग उसे सुन्दरी कहते क्यों हैं? सब उसे देवी कहते। कभी तो उस वचन से वह गर्वित होती. देवीत्व पर निस्सन्देह होना चाहती, कभी झुँझला पड़ती। कुमार आता. स्तव, स्तुति, प्रशंसा से उसे एक अनजान लोक में ले जाता। वह झुँझलाती, तिरस्कार करने लगकर भी कभी हँस पड़ती; किन्तु फिर भी नीरव रात की अकेली शान्ति में वह गीता लेकर बैठ जाती।

उस दिन मन्दिर में बड़े-बड़े दर्पण लग गये थे। जनता का कहना था—वसन्तिका का नृत्य सबको दीखता नहीं। श्रावण मास था, नृत्य-गीत मन्दिर के भीतर होता था। राजा और उच्च पदस्थ व्यक्तियों से मन्दिर भर उठता, द्वारों पर भीड़ लग जाती थी। देख-सुनकर राजा ने दर्पण की व्यवस्था की—उसपर वसन्तिका की परछाईं पड़ जायगी, दर्शकों को उसी छाया से सन्तुष्ट और तृप्त होना पड़ेगा।

नृत्य पूर्णता से चल रहा था, उसकी आँखों में थी वही भक्ति और शरीर-मन में शुचि-शुद्धता। किन्तु जिस समय देवदासी अपनी पूजा का श्रेष्ठ अर्घ्य देवता को देना चाहती थी, ठीक उसी समय उसके हृदय में एक महाप्रलय-सी आँधी उठ पड़ी। कौन जाने उस आँधी ने उसके हरे लता-गुल्मों के गहन वन को न केवल त्रस्त-मथित ही कर दिया, या ध्वंस के अन्धकूप में फेंक दिया। ऐसे सहसा उसकी दृष्टि सामने के

उस दर्पण पर जा गिरी, जिसे कि वह रोक भी न सकती थी और इसकी आशा वह कल्पना में भी नहीं कर सकती थी। खड़ी थी नृत्य की अपूर्व भङ्गिमा में पूर्ण यौवन की एक अनोखी श्री, सरस्वती-सी एक अनुपम सुन्दरी, घृतदीप की आरती लिए खड़ी थी। और उसके सारे अङ्ग? उसे लगा, मानो गोदावरी से लहराते हों। न केवल निर्जीव नृत्य, वरन् नृत्य की साकार देवी उस दर्पण में खड़ी थी। रूप—रूप, ऐसा रूप।

दीवट उसके हाथ से गिर पड़ी। दर्पण की ओर निहारती हुई वह अपने आपको कब बिसर गयी, सो वह स्वयं ही न जान सकी। वह देखने लगी आँखें फाड़-फाड़कर, मानो उस छाया में वह समा जाना चाहती हो।

राजा से लेकर पुरोहित तक उद्विग्न हुए—'देवदासी अस्वस्थ है।'

राजा ने कहा—'वसन्तिका को घर ले जाओ।'

रात गहरी थी, केवल यमुना में लहरें उठ-पड़ रही थीं और खेचर-भूचर शान्त थे। वह दिया जलाये कमरे में बैठी थी, सामने रखा था एक बड़ा-सा दर्पण, व चमकीला शीशा, न केवल दर्पण वरन् उसमें थी प्रात की मुट्ठी-भर मुग्ध उजियाली-सी एक आत्म-विस्मृता, तन्मय नारी।

वसन्तिका देख रही थी अपने को। वह देखना—हाँ, अपना रूप देखना उसके लिए जीवन में प्रथम और नूतन था। नहीं, दर्पण में उसने अपनी छवि कभी नहीं देखी थी। देवदासी दर्पण को क्या जाने? उसकी तो दुनिया शिवालय में बद्ध थी।

वसन्तिका घुमा-फिराकर अपने को देखने लगी। मुँह की रेखा में हँसी का पहला दिया जल उठा। आँख में कोई विचित्रता समा-सी गयी। देखते-देखते उसके अंग-प्रत्यंग चातक की-सी प्यास से स्फुरित हो उठे—मरु-भूमि में भटके पथिक की-सी तृष्णा से। दोनों आँखों की व्यग्र, सर्व-

ग्रासी दृष्टि प्रसारित करके वह उसे देखने लगी। घण्टों देखती रही। किन्तु फिर भी उसके नेत्र अतृप्त रह गये। कभी लगता--वह उस रूप को आकण्ठ पी लेना चाहती है। कभी जान पड़ता--उन विस्फारित नसों के यौवन को वह एक ही घूट में पी लेना चाहती है, और फिर ऐसा भी लगता--उस अप्सरी के चरणों में वह बिक जाना चाहती है।

वसन्तिका जान तक न पाई कि दर्पण की उस इन्द्राणी के आगे उसका अतीत और भविष्य कब एकाकार होकर पथ की धूलि में मिल गया और रह गया मात्र वर्तमान। नहीं, केवल वर्तमान नहीं, वरन् वर्तमान का वह अनुपम आलेख्य।

निशा के शेष प्रहर में वसन्तिका उठी। अब उसके नेत्र में, देह-मन में एक अपूर्व विस्मय था और सिहरन, थी एक हरी खुशी।

मदिरा के नशे की तरह मस्तानी-सी झूमती वह पलंग पर जा गिरी, मानो घड़ों शराब वह पी चुकी हो।

(५)

नित्य की भाँति मन्दिर में वैसी ही भीड़ थी। आरती-प्रदीप लिये वसन्तिका वैसी ही शिव के सामने खड़ी थी। किन्तु फिर भी एक उद्वेग, व्यथातुर नीरवता वहाँ विराजमान थी। खेद-विस्मय से राजा के नेत्र वाष्पाकुल हो रहे थे। इस परिवर्तन को विचारकर वह स्तब्ध, विवर्ण हो रहे थे। विचार न पाते थे कि कौन-सी ऐसी शक्ति, वह कौन-सा ऐसा महाप्रलय था, जिसने कि एक ही रात में मन्दिर के घृत-दीप को बुझाकर बिजली के बल्ब को लगा दिया; भक्ति, शान्तश्री, हिमालय की पार्वती के स्थान में एक रक्ताम्बर-धारिणी रण-देवी को बैठा दिया? राजा हाहाकार कर उठे—वह इस युवती को नहीं पहचानते, जिसके अणु-परमाणु में चातक की तृष्णा मूर्त हो उठी है, जिसकी शिरा-उपशिरा में इंगुर-जैसा दिया जल रहा है। वह तो पहचानते थे उसे, परिचित थे उसीसे, जिसकी नसों में केवल बालिका की हँसी

थिरका करती थी, नयन में भक्ति से ओत-प्रोत प्रेम था और अधर में शिशु-सा छाया-भोलापन।

जनता में एक आतुर चंचलता उपस्थित होने लगी। बूढ़े पुजारी ने मुँह फेर लिया। और वसन्तिका? वह मुग्ध-विस्मय से बार-बार बड़े दर्पण में उस तिलोत्तमा को देखने लगी। उस रूपसी के सामने जगत-संसार भूल बैठी।

चाँद-सूर्य में रजत और स्वर्ण पाशा की बाजी वैसे ही चलने लगी। उषा और रात्रि नियमित आने और जाने लगीं। वसन्तिका के पूजा-पाठ, नृत्य-गीत में अनियम न हो पाता; किन्तु फिर भी न वह वृन्दावन था और न वह गोपाल।

उस दिन की चाँदनी पृथ्वी से रंगक्रीड़ा में मस्तानी थी। कभी मेघ की आड़ में छिप जाती, जूही के घने पत्तों में से झाँकती, कभी सामने आकर हँस देती। मन्दिर और उद्यान उस रंग-लीला को देखकर चुप थे—स्पन्दनहीन-से। चहुँओर था एक चुप निरालापन। वसन्तिका न घर में सो रही थी, न दर्पण के सामने बैठी थी। वह मन्दिर के संगमर्मर के दालानों में टहल रही थी। कभी झरोखे में से झाँककर मन्दिर के भीतर देख लेती। निशाचरी-सी अर्द्धरात्रि में वह प्रायः यहाँ आया करती। न-जाने वह कौन-सी अदृश्य शक्ति उसे नींद की गोद से उठा लाया करती। आधी रात की निस्तब्धता में वह कान लगाकर कुछ सुनती, आँखें फाड़-फाड़कर मन्दिर में झाँकती। मन्दिर में घृतदीप जलता रहता, मन्दिर का कुछ अंशमात्र आलोकित होता। वह सुनती शत वर्ष पहले की देवदासियों के नुपुर-निक्कण को—कान लगाकर सुनती; जूही की आड़ में उस दबी हँसी की झंकार उसके हृदय को आच्छन्न कर देती। उसे लगता—सौ वर्ष पहले नहीं, अभी आज भी वह सब उसके आस-पास घूम रही हैं। वह यहीं हैं—तभी तो वह उनके श्वास को इस भाँति सुन पाती है और मन्दिर के प्रत्येक

ईंट-पत्थर इस भाँति वाङ्मय होते हैं। उसकी नीरव भाषा तो दुर्बोध्य नहीं, वरन् स्पष्ट और सहज है। कभी वह सिहर उठती—उसके श्वास वह अपनी रगों में अनुभव करती, शिव के नन्दी-भृङ्गी को देख-सी पाती; द्वार के बाहर वह उनकी छाया अस्पष्ट-सी देखती। और शिव की रूखी जटाओं में लिपटे काले नाग की फुफुकार को भी।

दर्पण, रूप सब कुछ हट गया था, उस समय वसन्तिका थी—केवल अतीत के मोहक जाल में फँसी, एक छोटी चिड़िया-सी। भूला-सा, भटका-सा पहुँचा अनन्त देव। वसन्तिका ने उसे देखकर भी न देखा, पहचानकर भी न पहचाना।

'देवी वसन्तिका!'

'ऐसी रात में कौन-सा काम आ पड़ा कुमार?' विरक्ति से वह बोली।

'देवी-दर्शन के लिए समय का प्रयोजन नहीं होता है, रूपरानी!'

वह चाहती थी—कहना चाहती थी कठोर कुछ, बहुत ही कठोर, नीरस, ऐसे कठोर शब्द कि उन्हें वज्राघात छू न पाये, ज्वालामुखी जला न पाये और बाढ़ भी बहा न सके; किन्तु सीमाहीन आश्चर्य तो यह है कि वह बोल न सकी कुछ भी। एक छोटी आपत्ति? नहीं, कुछ नहीं। विस्मय का चरम चमत्कार यह है कि सम्मोहिता-सी वह उन शब्दों के नीचे दब-सी गई—रूपरानी, रानी रूप की।

'पृथ्वी के श्रेष्ठ रूप को दोनों आँखों में भर लेना क्या कोई अपराध है?'

'यह सब मैं नहीं सुनना चाहती महाशय! शिव की मैं सेविका हूँ, इस सत्य को भूलने से कैसे चलेगा?'

'शिव की तुम पुजारिनी हो, तो रही आओ; किन्तु मैं भी तो पुजारी हूँ, फिर इसे भूलूँ कैसे?'

'तुम किसके पुजारी हो कुमार?' कौतुक से उसने पूछा।

'स्वर्ग-अप्सरा देवी वसन्तिका का।'

नवबधू की-सी लज्जा उसके मुँह पर दौड़ गई, जिसे न तो वसन्तिका ही जान सकी और न उस अल्प प्रकाश में कुमार ही देख पाया।

वसन्तिका सहमी, बोली—आप आधी रात में यहाँ आये क्यों?

'तुम्हें देखने को। प्रार्थी को तुम कई दिनों से विमुख कर रही हो। सुना है—रात में यहाँ बैठती हो।'

'जाओ, आधी रात में मन्दिर-प्रवेश का अधिकार स्वयं महाराज को भी नहीं है, फिर तुम तो कुमार ही हो।' इसके बाद वह शान्त गति से घर की ओर मुड़ी।

(६)

केवल मात्र सबेरा हो रहा था। शिव-उद्यान में पक्षियों का अपूर्व कलरव था। कुछ पहले मन्दिर धोया गया था। धूप-चन्दन लेकर पुजारिनी वसन्तिका मन्दिर को चली। ऐसे वह नित्य जाती। धूप-दीप की सुगन्ध के बीच में वह गौरी-जैसी ध्यान में बैठ गई।

'देवी वसन्तिका, तुम्हारे आराध्य के सामने आज मैं देवी को अपना अर्घ्य सौंपने आया हूँ, जी चाहे इसे स्वीकार करो, जी न चाहे, इसे अस्वीकार करो।'

वसन्तिका ऐसी चौंकी कि उसके हाथ के पत्र-पुष्प जमीन पर गिर पड़े। वह पीछे लौटी। बड़े दर्पण में राजकुमार की आकृति के ठीक बगल में थी स्वर्ग की विद्याधरी। नहीं, वह आँखें नहीं फेर सकी। उसकी नसों में मानो चातक की प्यास पुकार उठी। पलकहीन, मोहित दृष्टि से वह उस ओर देखती ही रह गई, देखती ही रह गई।

कुछ देर के बाद कुमार ने फिर पुकारा—'स्वर्ग-किन्नरी वसन्तिका।'

'मैं देवदासी हूँ कुमार!' बोली—इतनी देर के बाद वह बोली।

'फिर इस अर्घ्य को मैं रखूँ कहाँ? कहो, मुझे समझा दो, आज्ञा

दो देवि, देवी के लिए उत्सर्ग अर्घ्य को मैं सौंपू किसे ?' वसन्तिका का चित्त व्यथा-वेदना से निष्पेषित हो उठा। एक सपने के भीतर वह आच्छन्न-सी हो रही।

वह दो पैर आगे बढ़ी, किन्तु दूसरे पल वहीं पर बैठ गई। एक ओर मन्दिर के अणु-परमाणु उसे चुम्बक की तरह खींच रहे थे, वर्षों की अदृश्य साथिन शिवलिंग के पीछे से उसे पुकार रही थी और दूसरी ओर उसका भक्त, उसका पुजारी उसकी प्रतीक्षा में व्याकुल हो रहा था, अधीर बाँह बढ़ाये खड़ा था।

दोनों की सन्धि में जकड़ी वह अचल-सी बैठी रह गई। न-जाने कौन-सा प्रश्न उसके मन में था, कौन-सी हार-जीत की धुन में वह लगी थी। और यह भी कौन जाने, अन्त में उसके अन्तर की देव-सेविका जीती या कुमार का पुरुष पुजारी।

कलाकार

उज्जैन राज्य के पर्वत-शिखर पर आकाश का टुकड़ा झूम पड़ा था, और उस टुकड़े पर सूर्य की रक्तिम छटा चित्र-लिखी-सी अँक रही थी। सूर्य की बिदा-बेला में उज्जैन इंगुर-रँगा-सा हो रहा था, मानो ब्रज का कन्हैया उस बेला में उज्जैन में भूल पड़ा हो, और सखियाँ उसे घेरकर मुट्ठी मुट्ठी-भर गुलाल पवन में उड़ा रही हों।

कालभैरव के प्रशस्त मन्दिर-प्राङ्गण में उस दिन कलाकारों की भीड़ लगी हुई थी। रणदेवी की मूर्तियाँ श्रेष्ठ कला के निदर्शन-स्वरूप रखी हुई थीं। सभा के मध्य में स्वर्ण-सिंहासन पर उपविष्ट महाराज विक्रमादित्य तीक्ष्ण दृष्टि से मूर्तियों का निरीक्षण कर रहे थे। राजा के चहुँ-ओर सम्भ्रान्त जनों के आसन लगे हुए थे। यथायोग्य कर्मचारीगण बैठे हुए थे।

देर के बाद अमात्य-प्रधान ने अपना मत प्रकट किया—श्रीमान्, इन सबमें यह मूर्ति श्रेष्ठ है।

मलावार के शिल्पी—चतुरसेन की बनाई एक चतुर्भुज मूर्ति थी।

सभा की दृष्टि अनायास उस ओर गई। सबने उस मूर्ति की प्रशंसा की। केवल विक्रमादित्य रह गये अनुत्तेजित, मूक और वह तरुण शिल्पी-मेघराज रह गया निर्लिप्त-सा। न उस मुख में परिहास की हँसी थी और न प्रशंसा का भाव। एक बार उसने उस चतुर्भुज मूर्ति की ओर देखा, फिर नेत्र फेर लिये।

'नहीं',—देर के बाद विक्रमादित्य ने कहा—'नहीं।'

नहीं? सभा विस्मय से निर्वाक् रह गई।

'मूर्ति सुन्दर है, किन्तु श्रेष्ठ नहीं। और न वैसी, जैसी कि हम चाहते हैं।'

'परन्तु महाराज, इससे अच्छी मूर्ति बन ही कैसे सकती है?'

राजा शान्त भाव से हँसे—'इसमें जीवन के स्फुलिंग नहीं हैं।'

'राजाधिराज कैसी मूर्ति चाहते हैं?'—कलाकारों का यह नम्र निवेदन था।

'एक वीरश्री, जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वीरता की ज्योति विकीर्ण हो, चतुर्भुजा मूर्ति हो, और भुजाओं में ऐसी वस्तुएँ हों, जो संसार को वीरता का पाठ दे सकें। फिर मूर्ति सुन्दर भी हो, मन्दिर की देवदासी दीपमालिका-जैसी अद्वितीय सुन्दरी। उस मूर्ति की हम मन्दिर में स्थापना करेंगे और उसके सामने दीपमालिका वीर-नृत्य किया करेगी।'

सभा नीरव हो रही।

विक्रमादित्य कहने लगे—बड़े विस्मय और खेद की बात है कि मन्दिर को बने प्रायः दो मास का समय निकल गया, किंतु अभिप्रेत मूर्ति अब तक न पहुँच सकी। क्या भारत कलाकार-शून्य हो गया है?'

कलाकारों के भीमगर्जन में एक आत्मनिर्भरता आकार पा गई—'भारतवर्ष जिस दिन कलाकार-शून्य होगा, उस दिन चन्द्र-सूर्य भी मर-मिटेंगे।'

'तो?' राजा ने पूछा।

'हम सब हैं ही किस लिए? एक मास में महाराज की अभिप्रेत मूर्ति मिल जायगी।'—सब कलाकारों ने एक स्वर से कहा।

आनन्द-आवेगपूर्ण नेत्रों से विक्रमादित्य ने एक बार चहुँओर देखा, फिर मेघराज के मुख पर दृष्टि अचल हो रही—'और तुम, तुम तरुण शिल्पी नीरव क्यों हो?'

कर जोड़कर मेघराज खड़ा हो गया—'यह दुरूह कार्य दास से नहीं निभ सकेगा।'

'विचार कर बात करो, उद्धत युवक !' अमात्य-प्रधान गरज पड़े।

'मेरे लिए यह दुरूह कार्य ही है देव।'

'अहंकारी युवक, भूलो नहीं; यह विक्रमादित्य की राजसभा है।' अमात्य-प्रधान की यह उक्ति थी।

'सो मैं जानता हूँ देव, और यह भी जानता हूँ कि सत्य-प्रकाश के लिए समय-असमय या पात्रादि का विचार भी नहीं चलता।'

'बस, चुप। कहाँ का रहनेवाला है यह ?' अमात्य ने घूमकर नगर-कोतवाल से पूछा।

'अपरिचित है। यहाँ का अधिवासी नहीं है।'—कोतवाल ने कहा।

'तुम्हारा निवास-स्थान ?'

'हिमालय के पादमूल में।'

'यहाँ कब और किस उद्देश्य से आये हो ?'

'उद्देश्य ? नहीं, कुछ नहीं। थोड़े दिन से आया हूँ।'

'अच्छा।' महाराज स्निग्ध स्वर से कहने लगे—'ये मूर्तियाँ मन्दिर के दालान में यत्नपूर्वक रखवा दीजिए, अमात्य-प्रधान ! और युवक, तुम्हारी मूर्ति भी है इसमें ?'

'हाँ श्रीमन् ! वह सामने रखी है।'

सबकी दृष्टि एक साथ मूर्ति पर पड़ी, व्यंग्य से हँस पड़े। केवल विक्रमादित्य उस कुत्सित मूर्ति को निविष्ट चित्त से देखने लगे।

'इसी कला का इतना दम्भ युवक ?'—यह व्यंग्य अमात्य का था।

'युवक !' राजा ने पुकारा।

मेघराज उठकर खड़ा होगया—'आज्ञा श्रीमान् !'

राजा ने एक बार मेघराज की अर्द्धोन्मत्त आकृति की ओर देखा, फिर मुसकराकर मूर्ति की ओर देखकर कहा—'व्यंग्य का खासा रूप है। परन्तु भुजा की मांसपेशियाँ स्फीत क्यों हैं ?

शिल्पी मुसकराकर चुप रह गया।

'अच्छा जाओ, मूर्ति गढ़ने की चेष्टा करो। और दीपमालिका, मूर्तियों को रखवाना तुम्हारा काम है।'

स्त्रियोचित भंगिमा से एक चाँद की छाया-सी अपरूप सुन्दरी आकर खड़ी हो गई। निविड़ विस्मय लिये मेघराज उस अपूर्व सुन्दरी को मानो निगलने-सा लग गया।

(२)

वह शिल्पी था, कलाकार था, भावुक था। हिमालय के पादमूल में स्थित पर्णकुटीर से मेघराज आजन्म परिचित था। पृथ्वी के रूप, रस को दोनों आँखों में भर लेता, कभी गम्भीर रात्रि के एकान्त में खुले आकाश के नीचे खड़ा हो जाता, घण्टे के बाद घण्टा उसी मौनता में निकलता चला जाता। और फिर न-जाने कौन से रहस्य का अन्तर्निहित पर्दा उसकी आँखों के सामने से हट जाता। वह चीत्कार कर बाँह बढ़ाये दौड़ पड़ता--न-जाने किस भावना को पकड़ने के लिए, न-जाने किस वस्तु को नख से चीरने के लिए, कौन-से सत्य को छूने के लिए। कभी वह उद्भ्रान्त-सा देश में भटकता फिरता।

पंचमी के अधखिले चाँद की छाया पृथ्वी से लुका-छिपी खेल रही थी। और वह कलाकार ध्यानस्थ-सा बैठा उसी छाया के नीचे मूर्ति बनाने में लीन था। कभी उसे बनाता, कभी टुकड़े-टुकड़े कर फेंक देता, फिर चुपचाप बैठ रहता। अपने आपमें समाने-सा लगता। लम्बे-लम्बे दिन और रातें वहाँ से निकल गईं, वह कुछ नहीं जान सका।

रात्रि बीतते-बीतते कब उसकी मूर्ति समाप्त हो गई, वह कुछ भी नहीं जान सका। खुशी में वह क्षुधा-तृष्णा तक को भूल गया।

मेघराज उठकर खड़ा हो गया, आस-पास सामने-पीछे के नीरव अकेलेपन ने पलभर में उसकी खुशी को उच्छ्वास-व्यथा में परिवर्तित कर दिया। वह चलकर उस टूटे-से कमरे के दालान में आया। एक ओर जले, सूखे थोड़े-से बर्तन पड़े हुए थे; ईंट के चूल्हे की ईंटें इधर-

उधर बिखरी पड़ी थीं, जले पत्तों का ढेर आँगन में था। बगल में सूखती हुई धोती पर कुत्ते-बिल्ली ने मल-मूत्र त्याग किया था। सामने का द्वार खुला पड़ा था। उसकी आहट पाकर एक बकरी दो बच्चों के साथ निकलकर भागी। मेघराज ने लौटकर देखा, साग की टोकरी आँगन में औंधी पड़ी है और चावल का पात्र भी खाली है। उज्जैन नगरी के एकान्त में, लोकालय-वर्जित स्थान में यही था उसका निवास-स्थान।

मेघराज पलभर के लिए रुक गया। उद्भ्रान्त दृष्टि से एक बार सब कुछ देखकर मानो अपने-आपमें हँस-सा उठा। पास की पहाड़ी नदी में स्नान कर कपड़े बदले और तब कहीं ईंटों को इकट्ठा कर कुछ बनाने को बैठ गया।

दस बजने से पहिले ही राजसभा में प्रचुर जन-समागम हो रहा था। शिल्पीगण अपनी-अपनी मूर्तियाँ लेकर उपस्थित हो चुके थे। महाराज भी सिंहासन पर आसीन थे। सबसे पीछे वस्त्रावृत मूर्ति लेकर पहुँच गया मेघराज।

सभा ने उस ओर देखा, न देखा। कलाकारों ने अवज्ञा के साथ उस ओर दृष्टिपात किया।

'सब मूर्तियाँ आ चुकी हैं, अमात्य-प्रधान ?'

'आज्ञा जयजी, सब आगई हैं।'

उन मूर्तियों को देखकर सभा में प्रशंसा होने लगी। विक्रमादित्य की दृष्टि एक-एक मूर्ति पर पड़ती थी और निराशा से विकल हो जाती थी। सब मूर्तियाँ चतुर्भुज थीं। सबका देखना जब शेष हो गया, तब राजा का गम्भीर स्वर सुन पड़ा—'नहीं, एक भी नहीं है।'

विस्मय-क्षुब्ध सभा मौन रही। 'अभी एक और बाकी है'— सेनाध्यक्ष ने घोषित किया। राजा के इङ्गित से मूर्ति सामने आई। वस्त्र का आवरण उठाया गया और मूर्ति देख महाराज विपुल आनन्द से

स्तब्ध हो रहे। मूर्ति द्विभुज थी। उसके नेत्रपल्लवों से मानो रक्तबिन्दु टपक पड़ रहा था। महाराज को लगा—उसके नेत्रपल्लव से लेकर अंग-प्रत्यंग स्पर्श मात्र से फट पड़ेंगे।

'युवक शिल्पी !'—महाराज ने पुकारा।

'आज्ञा महाराज !'

'सार्थक है तुम्हारी कला का अनुशीलन, परन्तु वीरता को इस प्रकार प्राणवन्त कैसे कर दिया शिल्पी ?'

विनीत स्वर से वह बोला, 'यह मेरी अनुभूति मात्र है।'

चकित अमात्य ने पूछा, 'परन्तु चतुर्भुज क्यों न बनाई मेघराज ?'

'कला का रूप नष्ट होता।'

'और दोनों हाथों में कोई चीज़ क्यों नहीं है? न शासन का दण्ड है, न सुरुचि का और न वीरता का पाठ है, ऐसा क्यों किया शिल्पी ?

'पाठ के बन्धन में सत्य के रूप को बाँधना मेरा काम नहीं है और न मैं अपनी अनुभूति को किसी बन्धन में बाँध सकता हूँ, प्रधान !'

'प्रयोजन भी तो नहीं है। अच्छा तो अमात्य, इसकी प्रतिष्ठा मन्दिर में हो और मेघराज को प्रथम पुरस्कार मिले। और शिल्पी, तुम सम्मान के साथ इस राज्य में रहो।'

(३)

उषा के प्रथम राग में जब अलसानी पृथ्वी प्रकृति के प्रथम चुम्बन को सँभारती, तब देवदासी दीपमालिका शय्या त्यागकर उठती, हाथ का कंगन सँभारती, साड़ी, गमछा लेकर नदी-स्नान करती। देवोद्यान में जाती, भ्रमरगण उसके साथी रहते, मधुमक्खियाँ उसकी लम्बी लटों से केलि करतीं और आम की डाली पर बैठी कोयल भैरवी राग अलापती। उस सपने में रँगी, स्तव-पाठ करती हुई दीपमाला पुष्प चयन करती, चन्दन रगड़ती, धूप, दीप, नैवेद्य थाल में सजाती, स्वर्ण-दीप

उजियार लेती और देवी-पूजन को जाती। तब उज्जैन का राजपथ सोता रहता। राजप्रासाद के दीप निर्वासित न हो पाते, प्रधान पुजारी की निद्रा भंग न होती। उस सुप्तपुरी को लाँघती वह मन्दिर में जाती। भोर के काग साथी रहते। दीपमालिका मन्दिर को झाड़ती-धोती, देवी को प्रणाम करती। फिर देवी के सामने निमीलित नेत्रों से बैठी घण्टों ध्यान करती।

वेला दस बजे वह प्रात का कृत्य समाप्त करती। सन्ध्या-काल में पुनः वैसी ही भीड़ हो जाती। मन्दिर-प्राङ्गण में वह झूम-झूमकर नृत्य करती। राजा से लेकर प्रजा तक उस नृत्य का दर्शन करते। मेघराज नित्य जाता। घण्टों नाच देखता रहता। नृत्य समाप्त होने पर दर्शक चले जाते, प्राङ्गण सूना हो जाता, केवल मेघराज उस नृत्य की स्मृति में डूबा-सा बैठा रह जाता। घर लौटते समय कभी दीपमालिका अपाङ्ग दृष्टि से उसे देख लेती।

एक दिन प्रातःकाल में जब ऐसी ही नवीन स्फूर्ति लिये दीपमालिका देवी-मन्दिर में पहुँची, तब प्रवेश-द्वार के प्रथम मुहूर्त में वह रह गई विमूढ़, हतचेतन। रणदेवी की वह सुन्दरतर मूर्ति टूटी पड़ी थी और उन टूटे अंगों को एकाग्रता से देख रहा था मेघराज।

'यह सर्वनाश किसने किया शिल्पी ?'—विस्मय का प्रथम आवेग शान्त होने के बाद दीपमालिका ने पूछा और फिर मेघराज के उन्मत्त-से अर्थहीन नेत्रों को देखकर वह आतंक से पीछे हटी—

'तुम्हें यह क्या हो गया है मेघराज ?'

'कुछ तो नहीं।'

'इसे तुमने तोड़ा ?'

'मैंने ? शायद तोड़ा हो, स्मरण नहीं।'

'इतनी जल्दी भूल गये ? मेघराज, मेघराज, तुम उस मूर्ति की तरफ़ मत देखो। पागल हो जाओगे। यह तुमने क्या किया ?'

'मैंने ?'

'हाँ, तुमने ।'

'मैं अपनी अनुभूति को देख रहा था, यह अधूरी थी न ।'

'तो तुमने ही तोड़ा है इसे ?' व्यग्र चरणों से दीपमालिका उसके निकट पहुँच गई और वैसे ही बिना सोचे-विचारे अपने हाथों से मेघराज का मुँह दबा लिया--'चुप, चुप। यदि महाराज सुन पायेंगे तो प्राणदण्ड के सिवा दूसरा दण्ड तुम्हें न मिलेगा। इसे तुमने नहीं तोड़ा, मैं कहती हूँ, ऐसा तुम कर नहीं सकते हो ।'

मेघराज कुछ समझा, कुछ नहीं समझा या शायद दीपमालिका के शब्दों की प्रतिध्वनि कर उठा -- 'मैंने नहीं तोड़ा ।'

इसके बाद मेघराज एक शिशु जैसे सरल भाव से उन हाथों को गोद में खींचकर कहने लगा—'ये हाथ फूल से नरम हैं।' फिर बोला इस तरह जैसे अपने-आपसे जिज्ञासा कर रहा हो--'ऐसे नरम ! किन्तु क्या है इनमें ? ऐसे नरम हुए ही कैसे ? कैसे ? कैसे-कैसे ?' और तब ध्यान-स्तब्ध योगी-सा अपने-आपमें समा रहा। दीपमालिका पल-पल में सिहरी, काँपी, क्षण-भर के लिए अतीत भविष्य को और शायद वर्तमान को भी भूल गई, बैठी रह गई आत्मविस्मृत-सी ।

कब तक दोनों उसी प्रकार बैठे रहे और बैठे रहे आते सो वे स्वय भी नहीं जानते और कदाचित् उसी भाँति बैठे ही रहे आते, यदि पुरोहित का भीमगर्जन श्रुतिगत न होता—'दीपमालिका, और शिल्पी मेघराज, देव-मन्दिर को अपवित्र कर खासी प्रेमलीला रच रखी है ! चलो महाराज के निकट, तुम दोनों का विचार होगा ।'

चकित, भीत, त्रस्त दीपमालिका उठकर खड़ी हो गई। शिल्पी कुछ जान में, अनजान में नतमस्तक हो उनका साथी बन रहा ।

सभासदों से भरी हुई राजसभा में रत्नखचित सिंहासनारूढ़

विक्रमादित्य के नेत्रों में क्रोध, विस्मय और करुणा का एक अपूर्व समावेश था। अपराधीद्वय सामने खड़े थे।

'मन्दिर को अपवित्र करने के अपराधी हो तुम मेघराज, और देवदासी दीपमालिका तुम?—हाँ, यदि उतर कुछ देना चाहते हो तो दे सकते हो।' धीरे-धीरे दीपमालिका ने सिर हिलाया—नहीं, उत्तर वह कुछ भी नहीं देना चाहती।

'और तुम शिल्पी?'

'मैं? किन्तु पवित्र और अपवित्र इन्हीं दो शब्दों को समझ लूँ।'

'नादान मत बनो। वहाँ बैठकर तुम क्या कर रहे थे?'

'मैं?—वही तो, देवदासी के उन फूल जैसे नरम, अपूर्व सुन्दर हाथों को देख जो रहा था। उन हाथों को··।'

'बस, चुप रहो—प्रगल्भ!'

शिल्पी अवाक् रह गया।

'निर्लज्ज!'—महाराज पुनः कह उठे—'पापी, इसका दण्ड क्या है, जानते हो?'

'दण्ड? किन्तु मैं अपराधी कैसे?'

'पाप करते हुए भी पूछना—अपराधी कैसे, निरा कौतुक है मेघराज!'

'पाप?—किन्तु जानता केवल इतना हूँ, कि मेरी भावना, मेरी अनुभूति पर विश्व कभी प्रतिबन्ध न लगाये, और यह बात श्रीमान् ने भी स्वीकार कर ली थी।'

'कलाकार की अनुभूति और उच्छृङ्खलता एक बात नहीं होती। फिर भी विदेशी, इस कलाकार को मैं दुनिया से विदा कर देना नहीं चाहता। इसी समय नगर छोड़कर तुम दोनों चले जाओ। और दीपमालिका, तुमसे मैं उसका नाम जानना चाहता हूँ।'

'किसका श्रीमान?'

'उस मूर्ति को तोड़नेवाले का।'

दीपमालिका ने एक बार विवर्ण नेत्रों से सभा की ओर देखा, फिर शिल्पी की ओर, तब चुप हो रही।

'तुम कह सकते हो मेघराज ?' राजा ने पूछा।

'शायद नहीं।'

'शायद कैसा ?'

'देवदासी का कहना है, मैंने नहीं तोड़ा। फिर यदि अपनी अनुभूति को मैं...?'

'बस। और तुम दीपमालिका ?'

'अपराधिनी मैं हूँ राजाधिराज! और दण्ड देने के अधिकारी अवन्तिराज।'

विक्रमादित्य ने घृणा से मुख फेरा—'कुछ नहीं। तुम दोनों इसी वक़्त नगर त्यागकर चले जाओ।'

(४)

चन्द्रमा की क्षीण छाया वन-वीथी में पड़ी झपकियाँ ले रही थी और प्रान्तर की गोद में पड़ा वन सो रहा था। झींगुर-गान में नींद की अलसता पड़ी सुषुप्ति की श्वास खींच रही थी।

ऐसी ही एक झिलमिली चाँदनी रात में मेघराज झपटा चला जा रहा था और उसके पीछे चली थी उसीकी एक छाया-सी दीपमालिका। कब तक और कहाँ तक वे दोनों जाने को हैं, सो शायद वे स्वयं ही नहीं जानते, और न इस बात का विचार उनके मन में उठ पाता है। उन्हें जाना था सो वे चले जा रहे थे, बस।

नारी-कण्ठ की अस्फुट ध्वनि से मेघराज पीछे को लौटा और वैसा ही एक मूर्ति की भाँति खड़ा रह गया। दीपमालिका यन्त्रणासूचक शब्द करती हुई पैर का काँटा निकालने में लगी। उसके पदद्वय काँटे से क्षत-विक्षत हो रहे थे, साड़ी का आँचल फट गया था।

'तुम—तुम यहाँ नर्तकी ?' विस्मयसूचक स्वर में उसने पूछा।

नर्तकी ?—दीप नहीं, मालिका नहीं, नर्तकी—मात्र नर्तकी ? वेदना निपीड़न में मालिका मूर्च्छातुर हो रही। उत्तर-प्रत्युत्तर उसके हृदय में समाधिस्थ हो रहा।

'सुन रही हो नर्तकी ?'

'तो कहाँ जाऊँ ?'

'ऐसा !'—जैसे निविड़ विस्मय मेघराज के कंठ में साकार हो उठा।

'ऐसा ही। मेघराज की छाया है न दीपमालिका।'

'छाया ?'—और ठीक उसी पल में कुछ समझकर मेघराज आर्तनाद कर उठा—'लौट जाओ नर्तकी !'

'लौट जाऊँ ? किन्तु जाऊँगी कहाँ ? इतनी बड़ी दुनिया में मेरे लिए जगह भी कहीं तुमने छोड़ रखी है ? अकेली भटकती हुई मैं थक जो गई हूँ। चहुँओर अन्धकार का स्तर है, रन्ध्रहीन, छिद्रहीन अन्धकार, केवल अन्धकार। इस विराट् अन्धकार में, विराट् सूनेपन में इन्द्रनील धनुष हाथ में लिये जिस दिन पहुँच गये तुम शिल्पी—'

'लौटो—लौटो नर्तकी।'

'और तब ?—'कह चली नर्तकी—'तुम्हारी इस उन्मत्त-सी आकृति-के भीतर जो एक विश्वव्यापी विराट् अनुभूति भरी पड़ी है—उस अनुभूति में मेरी सत्ता समा रही, कब तिल-तिल कर उसमें मैं समा रही, सो मैं स्वयं नहीं जानती।'

'यह कैसी कथा सुनाती हो नर्तकी ?'

'सत्य। जिस सत्य को तुम बूँद-बूँद कर अपनी अनुभूति में पकड़ लेते हो, वही सत्य।'

'जाओ, चली जाओ, अलीक सपना मैं नहीं सुनना चाहता, नहीं देखना चाहता।'

दीपमालिका की व्यग्र भुजाएँ उठीं—शायद जान में, शायद अनजान

में, वैसे ही शिल्पी के कण्ठ में लिपट रहीं—एक सरल निर्भरशीलता के साथ।

दीपमालिका की जब चेतना लौटी, तब पाया अपने को उसी विपद्-संकुल वन में अकेली।

(५)

श्रावण की विरामहीन धारा में प्रचण्ड आँधी मतवाली-सी चल पड़ी थी और उस आँधी-पानी में बावला-सा मेघराज वनगहन को छानता फिर रहा था। न-जाने उसकी कौन-सी कला, कौन-सी अनुभूति अथवा अतीत की कोई स्मृति वन की गोद में गुम हो गई थी जिसे वह ढूँढ़ता फिर रहा था।

पर्णकुटीर के द्वार पर सहसा उसकी गति रुद्ध हुई। प्रस्तर-खण्ड पर उपविष्ट सुन्दरी नारी ने उस ओर भ्रूक्षेप मात्र न किया और उसके सामने रखी वह मूर्ति वैसे ही निर्वाक् कौतुक से मुसकराने लगी।

'शिल्पी मेघराज की यह मूर्ति तुमने कहाँ से चुराई नर्तकी?' देर के बाद मेघराज ने पूछा।

'यह मेरी अनुभूति की देन है शिल्पी, और है मेरे प्रेम का पुरस्कार।'

मेघराज का शरीर काँपा और वह सहसा चिल्ला उठा—'चुप रहो, चुप-चुप। मेरे सौन्दर्य-ज्ञान को, अनुभूति को और सत्य को; छान-छानकर सत्य को निकाल लेने की शक्ति को किसी एक में बाँधने की, किसी एक में केन्द्रीभूत करने की चेष्टा मत करो, नर्तकी!'

वह हँसी—मन्द-मन्द।

उद्भ्रान्त-सा कह उठा वह शिल्पी—'और यह शव की साधना कब तक चलेगी?'

'युग और युगान्तर तक।'

'इस शव की शव-साधना में वास्तव का गला मत दबाओ।'

'शव ? किन्तु शव है ही कहाँ शिल्पी ? क्या तुम देख नहीं पाते, सुन नहीं पाते हो कुछ ? शव के आधार में मेरे प्रिय का यह—'

'बस, बस करो नर्तकी !'

'नर्तकी, मात्र नर्तकी ?'

'केवल नर्तकी । इस शव-साधना को छिन्न-भिन्न कर डालो । नख-द्वारा शतधा छिन्न कर डालो । ढहाओ, ढहाओ इसे ।'

दीपमालिका शान्त हँसी—'जाओ ।'

मेघराज चल पड़ता, लौटता, पुनः-पुनः पूछता—'नर्तकी, इस शव-साधना में यह आकर्षण कैसा ? प्रत्याख्यान में यह वेदना कैसी ? सत्य पर यह परदा कैसा ?' उद्भ्रान्त-सा कभी वह उस कुटिया के चहुँ ओर दौड़ता फिरता और कभी चिल्ला-चिल्लाकर पूछता—'यह शव की साधना कैसी ?' और नर्तकी कभी मुसकरा पड़ती, कभी ध्यानस्थ हो रहती ।

रहस्यमयी

सङ्गीत की मूर्च्छना-सी सोमवती नदी ग्राम की गोद में उच्छ्वसित गीत गाया करती। उसके भँवरों में शङ्खनाद-ध्वनि गुञ्जना करती। सोम के तीरवर्ती वृक्षों पर और अधटूटे मन्दिरों के गुम्बजों पर सहस्रों काग पक्षियों का नित्य मेला-सा लगा रहता। प्रातः-सन्ध्या गायें जलपान करतीं, उनके तृप्त उद्गारों से जैसे सोम का हृदय भर उठता।

कभी वह कूदती-फाँदती पत्थरों की सीढ़ियों तक चली जाती, और तब सीढ़ियों पर बैठे हुए श्वेत बगुलों की पंगत में एक आतंक उपस्थित होता। और कदाचित् उस आतंक को देखकर पनिहारिन की कलसियाँ सूनी ही लौट जातीं। तब उसके तीरवर्ती झाड़ी-झुरमुटों में दबकी सारिका चहचहाने लग जाती।

अस्तमित सूर्य-किरण नित्य की भाँति नदी-जल में पड़ी रामधनुष के रंगों को आँक रही थी। और चित्रकार प्रद्युम्न नित्य की भाँति मन्दिर के भग्न-द्वार पर बैठा उद्भ्रान्त दृष्टि से नदी की ओर निहार रहा था।

उसके चित्र का आधार थी वही नदी सोम। आज जो विश्व की डेहरी में वह एक विख्यात कलाकार बन बैठा है, वह सब तो इसी नदी की देन थी न। इस नदी के विशाल हृदय से उसे चित्र के न-जाने कितने आइडिया नित्य नवीनतर रूप में मिला करते। कभी वह वहाँ की नग्न प्रकृति को नग्नतर कर आँक देता, कभी स्नानार्थी-स्नानार्थिनियों के सौन्दर्य को नवीनतर कर तूलिका में भर देता, कभी किसी अन्ध भिखारी के ज्योतिहीन नेत्रों में आत्मा की अन्तर्ज्योति भर देता, चित्र उसके सजीव-से वाङ्मय हो उठते। दुनिया तब उन्हें श्रेष्ठतर आसन

पर बैठा देती। कभी प्रद्युम्न नदी के विशाल हृदय से विशालता का रहस्य भेद करने में लग जाता। प्रातः-सन्ध्या उसी तन्मयता में निकल जाते। रात्रि प्रभात हो जाती। और तब शहर की मुख्य अट्टालिका में बैठी माता दुश्चिन्ता से आँसू बहाती। प्रद्युम्न घर लौटना भूल जाता, चित्रशाला रुद्धद्वार रहती; दर्शक, क्रेता लौट-लौट जाते। दासो-चाकर प्रभु की अनुपस्थिति की घोषणा कर देते। कभी दिन के बाद दिन निकल जाते—प्रद्युम्न गृहमुखी न होता। शंकित माता शहर-भर में उसकी खोज कराती। किन्तु फिर भी सोमतीर का शिल्पी-आवास गोपन होकर रह जाता। दुनिया को इसकी कल्पना तक न हो पाती, और न प्रद्युम्न ही इसका सन्देश किसीको देना चाहता।

सूर्य धीर गति से पर्वत की आड़ में चल पड़ा, रश्मियों में गुलाल-जैसे छीटे नदी-जल में अस्पष्ट हुए और तब कहारों के कन्धे पर धरी वह स्वर्णकलश-युक्त पालकी नित्य की भाँति वस्त्रावृत अवस्था में नदी पर पहुँच गई। वाहकों ने पालकी जल पर रखी। अवगुण्ठनवती वह नारी जल में उतरी। वाहकगण जरा हट गये और तब घण्टों जल में बैठी वह नारी न-जाने क्या करने लगी। कौन-सी खोई वस्तु को ढूँढ़ने लगी।

और तब शीघ्रता से तूलिका थामे प्रद्युम्न अवगुण्ठनवती का चित्र आँकने में लग जाता। कभी तीक्ष्ण दृष्टि से उस अवगुण्ठन के भीतर का रहस्य उद्घाटन करने की चेष्टा करता, तूलिका के रेखापात से कल्पनालब्ध केसरवन की राजकन्या के अवगुण्ठनावृत अनुपम मुख को साकार करना चाहता, कस्तूरी का सौरभ बूँद-बूँद कर तूलिका में भर देता, चन्द्र-सुषमा को तूलिका के अग्रभाग में पकड़ लेना चाहता। नदी के गान को रंग-तूलिका से साकार करना चाहता। कभी उसका अन्तर व्यथा से हाहाकर कर उठता—अरी, रहस्यमयी, वसन्त की रानी, जरा घूँघट तो हटा, पलभर के लिए, केवल पलभर के लिए ही तो

हटा दे। शिल्पी की तूलिका में जीवित रूप का रंग तो कभी लाने दे। यह शव-साधना है,—रूप की यह शव-साधना दुनिया में कब तक चल सकेगी ? और शिल्पी भी शव-साधक बना-बना तूलिका को जीवित कब तक रख सकेगा ?

कभी प्रद्युम्न रो पड़ता, उठकर बाहर आता, सीढ़ियाँ तय करता ; किन्तु तभी वह लौट पड़ता, सहमकर तूलिका सँभालता और उस वस्त्रावृत रहस्य का मर्म उद्घाटन करने में जुट पड़ता। नित्य की भाँति वह चल देती और व्यर्थ हाहाकार में दबा शिल्पी बैठा रह जाता दूसरे दिन की प्रतीक्षा में।

उस दिन भी सदा की तरह सब कुछ चल रहा था। व्यतिक्रम था तो केवल इतना ही कि वह रहस्यमयी नारी भोर बेला में न आकर, आई थी भरी साँझ में।

(२)

मनुष्य की जिज्ञासा कभी दुर्निवार हो जाती है, और तब कभी वह उन्माद की भावना में पर्यवसित होकर तृप्त भी होना चाहती है। कदाचित् वह स्थिति हो गई थी उस केसर-सुगन्धित भोर की बेला में प्रद्युम्न की।

उन्मादी की भाँति वह नदी-जल को मथता हुआ तैर रहा था—लहरियों को हाथ से उछालता हुआ। रङ्ग की कटोरियाँ, तूलिका और समाप्त चित्र उस दिन मन्दिर-द्वार पर नहीं, किन्तु नदी-सोपान पर पड़े हुए थे। और वह एक जङ्गली हवा के झोंके की तरह जल को विमर्दित करता फिर रहा था। उस दिन उसके साथ थी केवल बगुलों की टोली।

धीरे-धीरे चलकर वह पालकी पहुँची। जल में पालकी उतारकर वाहकगण हट गये। वस्त्रावृता नारी जल में उतरी। एक बार उस उन्मत्त पवन-जैसे सन्तरणकारी के प्रति देखा, फिर जल में बैठ गई और निविड़ मनोयोग से जैसे जल का हृदय देखने लगी।

प्रद्युम्न कब जल से निकला और कब सिक्त वसन ही से सोपान पर बैठा उस स्नानार्थिनी का चित्र आँकने में लग गया, सो वह कुछ नहीं जानता। उस पहेली-सी नारी का चित्र आँकते न-जाने कितने दिन निकल गये होंगे, पर न वह चित्र पूर्ण होने को आता और न उसकी आतुर जिज्ञासा पूर्ण होती। सामने की यवनिका न हटती। देखता वह इस पहेली को दूर से—उसी मन्दिर के द्वार पर से। आँकता वह अधूरा-सा चित्र और बस।

इतने निकट से उसने उसे कभी न देखा। सान्निध्य की मादकता से हाथ की तूलिका उसकी रँग उठी। और जब वह इन्द्रधनुष के सातो रङ्गों को उस मुख में भरने को हुआ, तब हो गयी एक अनहोनी बात।

सहसा रहस्य की यवनिका शिल्पी के नेत्र-समीप से हटी। सो हटी भी तो ऐसे सहसा कि परिचय के प्रथम मुहूर्त में प्रद्युम्न रह गया—मूक, बधिर, हतचेतन-सा।

'तुम—तुम चित्रकार? तो इतने दिन छिपकर रहे भी कहाँ?' और उत्तर-प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह मुक्त अवगुण्ठनवती पूछ चली—'इसी जल के नीचे? और यह चित्र?'—और तब खिन्न, उदास हँसकर कहने लगी—'अधूरा जो है यह चित्र।'

'अधूरा?' शिल्पी ने सहमकर नेत्र उठाये—किस अलैया के पीछे वह इतने दिन भटका मर रहा था? मलयपर्वत की किन्नरी? कहाँ है वह कल्पना का मादक-भरा पारिजात! यह तो उसी के घर की माता, बहन की स्नेह-सनी, व्यथा-आघात-पीड़ित नारी-मूर्ति है।

सम्भ्रम, श्रद्धा से शिल्पी कह उठा—'तो बहन, पूरा भी तो अब मैं कर दूँगा न।'

'तुम करोगे और इसे ही पूरा? असाध्य है, असाध्य।'

'तो?' निविड़ विस्मय के आवरण में घिरे-घिरे पूछा प्रद्युम्न ने।

'और पूरा कर इसे मुझे ही दोगे न?'

'यदि तुम चाहोगी बहन, तो अवश्य दूँगा।'

'अच्छा, लाओ मेरे पास।'

चित्र हाथ में लिये देखते-देखते वह बोली—जल में यह जो नारी बैठी है, सो ठीक है।

'तो?'

'एक बालिका पद्म-पँखुड़ी-सा रङ्ग, पद्म-पराग-सी मुखाकृति, समझे न भाई? तीन वर्ष की बालिका। उसे सुला दो इस जल के नीचे। समझे न तुम?'

सिर हिलाकर प्रद्युम्न बोला ऐसे, जैसे सब कुछ समझ गया हो—हाँ, ठीक है।

फिर वह आँकने लगा।

'और तुम मेरे भाई हो न? नाम क्या है?'

'प्रद्युम्न।'

'अच्छा तो प्रद्युम्न, तुम मुझे दीदी क्यों न कहो?'

और जब तक प्रद्युम्न कुछ कहे, तब तक वह चित्र पर झुक पड़ी—'फिर भी अधूरा।'

'अधूरा है—अब भी?'

'अधूरा—अधूरा। कहाँ है वह युवक? इस स्वर्ग-सुषमा को जल में डुबोता हुआ कहाँ है वह युवक?'

प्रद्युम्न ने विराट् विस्मय से उस स्त्री के प्रति देखा।

'जल्दी करो, जल्दी। हाँ, बस यहीं पर आँक दो युवक को। नहीं-नहीं, यह मुखाकृति कैसी! कार्तिक की मूर्ति देखी है तुमने? बस, तो उसी की तरह, वैसे ही हैं वह। अरे, ऐसा नहीं। यह ज्योतिहीन आँखें कैसी! ज्वलन्त अग्नि की चिनगारी देखी है प्रद्युम्न? बस, वैसी ही। अच्छा तो कल आऊँगी।'

वह नित्य की भाँति अवगुण्ठन से मुँह ढाँके चल दी। और प्रद्युम्न स्तब्ध—विमूढ़-सा बैठा रह गया।

(३)

वह स्नानार्थिनी नित्य आती। चाँदी के डब्बे में भरकर नित्य प्रद्युम्न के लिए फल-मिष्टान्न, पिष्टक ले आती, वाहकों की दृष्टि बचाकर उसे भोजन कराती, और तब तृप्त श्वास खींचती हुई चित्र पर झुक पड़ती। चित्र देखते-देखते कह उठती—'अधूरा है।'

'अब भी अधूरा है दीदी?'—निराशा से वह पूछता। 'है न प्रद्युम्न! इन आँखों की ओर देखो। पा गये तुम उस मुखर भाषा को? नहीं? तो फिर देखो। अरे पागल, यह क्या कर बैठा है? इन नेत्रों में यह स्वप्न का नशा कैसा? लुट जाने और खोने की व्यथा को भर दो। देखें। हाँ। ज़रा और मनोयोग से काम लो भैया! अच्छा, चली।'

उस दिन—और दूसरा दिन भी निकल गया—वह नहीं आई, प्रद्युम्न की दीदी नहीं आयी। न किसीने उसके शुष्क मुख के प्रति लौटकर देखा, न किसीने आग्रह-आदर से जलपान कराया, और अपने प्रति इस अवहेलना के लिए न किसीने प्रेमपूर्ण शासन ही किया।

तीसरे दिन की सन्ध्या भी जब व्यतीत होने को हुई, तब प्रद्युम्न अस्थिर हो उठा। चित्र उसका पूर्ण हो चुका था कल ही। अब देर थी मात्र दीदी के आने की और चित्र उसे सौंपने की, और बस।

सन्ध्या की अँधेरी में प्रद्युम्न सहसा चौंक पड़ा। विराट् विस्मय से वह मन्दिर-द्वार पर आकर खड़ा हो गया। नहीं, जल में नहीं, पालकी उसके द्वार पर खड़ी थी। वाहकगण हट गये और वह अवगुण्ठनवती उतरी।

असङ्कोच, अधीर प्रद्युम्न ने उसका हाथ पकड़ लिया—'दीदी! अरे, तुम्हें तो जोर का ज्वर है।'

मन्दिर में प्रवेश कर उसने अवगुण्ठन हटाया, स्नेह से उसे देखा, बोली—'पागल लड़के, इसमें चौंकने की बात क्या है? बुखार आ गया है, उतर जायगा। आज तो फिर भी अच्छी हूँ।'

'दो दिन में कितनी सूख गयी हो दीदी! घर का पता भी नहीं देतीं कि वहाँ तक जाऊँ।'

'घर का पता?'—वह ऐसी चौंकी कि जिसे देखकर प्रद्युम्न चकित रह गया।

'क्या करोगे पता जानकर? नहीं, नहीं; वहाँ पर मत जाना—मत जाना।'

उसका स्वर प्रद्युम्न को एक आर्तनाद-सा लगा।

'देखें चित्र।'

वह सहमी और चित्र में ऐसी समा रही कि घण्टा-भर उसी तन्मयता में निकल गया।

वह उठी—ऐसे सहसा उठी, कि प्रद्युम्न को कुछ कहने-सुनने तक का समय न मिला।

'चली, प्रद्युम्न! चित्र लिये जाती हूँ।'

चल दी अवगुण्ठनवती।

दूसरे दिन प्रद्युम्न एक उदासी, एक आलस्य में समाया बठा था—उसी मन्दिर में। पहुँची वह नारी—उन्मत्त आँधी की तरह।

'प्रद्युम्न, प्रद्युम्न, मेरे भैया, ले, इसे छिपाकर रख दे। हवा तक को खबर न लगने पाये इसकी। छिपाकर रख दे भैया!'

वही चित्र था। प्रद्युम्न ने उसे ले लिया।

साहस देता हुआ बोला प्रद्युम्न—घबराना कैसा दीदी, मैं जो हूँ तुम्हारा भाई, मेरे पास से कौन ले सकता है चित्र को। विश्वास रखो।'

वह सहमी-सी, मधुर हँसी—'अच्छा, मैं चली।'

'ऐसी जल्दी।'

'इसे रख लेना। वक्त नहीं है, वरना इन मिठाइयों को अपने सामने बैठाकर तुम्हें खिलाती। वर्द्धमान से सीताभोग और खाजे आये थे, थोड़े-से ले आई हूँ तुम्हारे लिए। खा लेना।'

प्रद्युम्न उसका पथरोध करके खड़ा हो गया—'भाई के पास यह छिपाना कैसा ? बताओ, कहो, मुझे जानने दो, समझने दो—वह व्यथा, जो कि मेरी दीदी के हृदय को आच्छन्न किये रहती है, है कैसी ? और यह चित्र का व्यक्ति, यह परी-सी लड़की—है कौन ?'

वह खिन्न हँसी—'और इसे अगर तुम जानना नहीं चाहो, तो ?'

उसने एक बार उस रहस्यमयी की ओर देखा, फिर दीर्घश्वास के साथ बोला—अच्छी बात है। किन्तु कहती जाओ—जी तुम्हारा कैसा है ?

'मैं ? अच्छी तो हूँ।'

'झूठ।'

प्रद्युम्न ने उसके माथे पर हाथ रखा, अग्नि-जैसा जल रहा था। वह सिहर उठा।

रमणी स्नेह से हँसी—'पागल लड़का !'

इसके बाद वह जैसे आई थी, वैसे ही निकलकर चल दी।

(४)

वह रहस्यमयी जो गई, फिर चौथे दिन के प्रातःकाल में भी नहीं आई। प्रद्युम्न आशा-आश्वास से घड़ियाँ गिनता रहता, प्रातःसन्ध्या निकल जाती और रात्रि भी जागकर बिताता। किन्तु उसकी स्नेहमयी ः की पालकी न दिखती, न दिखती।

उस दिन जब निराश वेदना से प्रातः की घड़ियाँ गिनने में वह लगा

था, तब मन्दिर-सोपान पर पदध्वनि हुई। विपुल उल्लास से खड़ा हो गया प्रद्युम्न—दीदी की अगवानी के लिए। किन्तु—किन्तु यह क्या? दीदी के स्थान में यह कैसा—कहाँ का उन्मादी पहुँच गया है? एक अपरिचित पुरुष उसके सामने खड़ा था।

और प्रद्युम्न की भटकी हुई दृष्टि जब उसके मुख पर निबद्ध हुई, तब वह सिहरकर स्तब्ध हो रहा—यही तो है—उस चित्र का वह राक्षस पुरुष।

राक्षस? हाँ, प्रद्युम्न इसे राक्षस ही कहेगा! क्यों? सो वह स्वयं ही नहीं जानता।

'एक चित्र बनाया है तुमने?' उसने पूछा।

'एक चित्र? परन्तु महाशय, मैं चित्रकार हूँ, ऐसे कितने ही चित्र बनाये होंगे।'

'ठीक है। मेरा मतलब उसी एक चित्र से है। आप मुझे अपने चित्र दिखला सकते हैं?'

'यहाँ जो कुछ है, देख सकते हैं।'

'एक चित्र मेरी पत्नी कई दिन पहले ले गई थीं। मैं उसे ही देखना चाहता हूँ।'

'आपकी पत्नी?'

'हाँ, मेरी पत्नी। आप शायद नहीं जानते, वह उन्मादिनी हो गई हैं।'

'किन्तु महाशय, मुझे तो आप ही के उन्मादी होने का सन्देह है।'

और इसके बाद प्रद्युम्न ने विस्मय से देखा, वह व्यक्ति पवन-वेग से चल पड़ा।

× × ×

इसके बाद कितने ही वर्ष व्यतीत हो गये, प्रद्युम्न से उस रहस्यमयी की भेंट नहीं हुई।

अब भी चित्र बनाते-बनाते प्रद्युम्न का चित्त कभी भटक पड़ता है—उसी रहस्यमयी के द्वार पर।

अब भी कभी एक आच्छन्न सन्ध्या-वेला में प्रद्युम्न आकर उसी मन्दिर में बैठा रहता है—प्रातः की प्रतीक्षा में।

अब भी कभी उस चित्र को देखते-देखते प्रद्युम्न के आँसू बह निकलते हैं।

रूप का मोह

(१)

आश्विन के उत्सव-सी सन्ध्या शुचि-शुभ्र होकर गिरि-गुहा से उतर रही थी—हाथ में नींद-कुसुम की माला लिये। पृथ्वी-प्राङ्गण में व्यस्तता थी—एक तन्द्राच्छन्न उत्सुकता। ग्राम्य-कुटीर के द्वार पर अवगुण्ठिता वधू शायद दीप जलाती हो, किन्तु शहर के जनाकीर्ण पथ विद्युत्-शिखा से आलोकित हो रहे थे।

एक मूल्यवान् कार भीड़ को चीरती हुई बाजार की ओर से निकली। आरोही था—सुन्दर युवक। कार में बैठा सुनील अपने-आप मुसकरा रहा था। न-जाने कौन-सी भावना, कौन-सी खुशी ने उसके मुख की रेखाओं पर हँसी की नवोढ़ा को चैतन्य कर दिया था।

दुःख, अभाव ? नहीं—नहीं ; सुख, ऐश्वर्य के आधिक्य में वह तो दुःख—व्यथा की जराग्रस्त बूढ़ी की कल्पना तक नहीं कर पाता था, और न कभी इनकी जरूरत ही हुई। और होती कैसे ? पिता का एक मात्र पुत्र, विलायत पास इञ्जीनियर, उस पर अपार धन का स्वामी, राजपुत्र-सी आकृति, अनिन्दनीय स्वास्थ्य।

उस स्थान पर भीड़ थी रन्ध्रहीन। मोटर रुकते देखकर सुनील विरक्त हो उठा। भीड़ का कारण पूछा। ड्राइवर उतरा। थोड़ी देर बाद लौटकर कहने लगा—लोग किसीको पीट रहे हैं, शायद वह भिखमङ्गा या चोर हो ? सुनील ने घड़ी की ओर देखा, छः बज रहे थे। कहा—'चलाओ मोटर।' कहाँ कौन दरिद्र मरा या जिया, इससे उसका क्या सम्बन्ध ! उसे तो ठीक छः बजे पार्टी में जाना था। ऊँचे समाज में

रहता है, मस्तिष्क शिक्षा-ज्ञान का भण्डार बन चुका है। उस शिक्षा की, समाज की देन भी तो उसे देना है न। दरिद्र की बात समझे वही अशिक्षित और दरिद्र। वह तो एक पढ़ा-लिखा, शिक्षित व्यक्ति है।

परन्तु गाड़ी अधिक दूर बढ़ न सकी। वह गाड़ी पर से उतर पड़ा। उसकी आज्ञा की यह अवहेलना ? सुनील इसे सहे भी तो कैसे ? फिर वह आदमी ही ठहरा न ! देर हो रही थी, वक्त निकला जा रहा था।

वह आगे बढ़ा, सुन्दर नेत्र दीप्त हो रहे थे। दया से ? नहीं, नहीं। उन आयत नेत्रों में कदाचित् विद्वत्ता की गम्भीर छाया पड़ी हो, सभ्यता का मार्जित रूप हो, धन और शिक्षा का गर्व हो। प्रेयसी के लिए प्यार तथा युवती के लिए आदर हो, और—और शायद पत्नी के लिए प्रेम भी रहा हो, किन्तु दरिद्र के लिए दया, सहानुभूति ? नहीं, यह सब कुछ नहीं। कदाचित् उसके लिए रहा हो रूखा तिरस्कार या शायद—शायद—कौन जाने।

छड़ी लिये सुनील वहाँ तक पहुँच गया। किन्तु जिस समय उसे एक भयानक बात करनी थी, ठीक उसी समय वह विवर्ण हो उठा। यह कैसी भयानक वस्तु से उसका सामना हो गया ! उससे उसकी कोई जान-पहचान भी तो नहीं थी न। एक दस-बारह वर्ष का बालक निर्जीव-सा जमीन पर पड़ा था और कई व्यक्ति उसे मार रहे थे। पलभर सुनील अवसन्न-सा खड़ा रहा, परन्तु दूसरे ही पल उसने ललकारा—'क्या कर रहे हो जी !'

सुनील को देखकर लोग हटने लगे। मारनेवालों ने हाथ रोक लिये।

'यह चोर है मालिक !' हलवाई बोला।

'यह जरा-सा लड़का ?'—आश्चर्य के साथ सुनील उसकी ओर बढ़ा। घृणा से उसके नेत्र संकुचित हो रहे थे। विचारने लगा सुनील—तभी तो दुनियाँ में ऐसी अवनति है। जरा-जरा-से लड़के चोरी करें,

डाका डालें। न शिक्षा है, न शासन है। लड़का चोरी करके जायगा और माँ बाप उसे पुचकारेंगे, प्रशंसा करेंगे और उसका साहस बढ़ा देंगे।

सुनील अवाक् था। इतनी मार खाने पर भी वह लड़का उठ बैठा था और दोनों हाथों में कुछ दबाए था। एक चीथड़ा पहने हुए ठण्ढ से काँप रहा था।

सुनील का स्वर कोमलता से मुरझा-सा गया—'बच्चे, चोरी क्यों की?'

वह चुप था।

'बोलो-बोलो, डरो मत।'

'दो दिन से माँ भूखी है, जीजी और मैं तो साग-पात खा लेते हैं।'

'और तेरी माँ चोरी की मिठाई खाती है?—पाजी कहीं का!' हलवाई गरजने लगा—'हजूर, भरे थालों से यह लेकर भागा। सेठजी की बरात के लिए बनाई थी। सारी मिठाई खराब गई। अब वहाँ क्या दूँगा?' अवहेलना से सुनील ने एक नोट निकालकर हलवाई को दे दिया। फिर लड़के से कहा—'डरो मत। हाँ, तो घर में कौन-कौन हैं?'

'माँ, जीजी और मैं। बाबूजी जबसे मरे, तबसे भर-पेट खाना नहीं मिलता है।'

'कहाँ रहते हो?'

'उस तरफ। पहले माँ मजूरी करके कुछ ले आती थी, अब तो छः महीने से बीमार पड़ी है।'

सुनील ने पहले यह कहना चाहा कि चोरी करना अपराध है, आगे ऐसा कभी न करना। किन्तु वह कह कुछ भी न सका, उससे फिर पूछा—'हाथ में क्या लिये हो?'

लड़के ने मुट्ठी खोल दी, दली-पिसी हुई कुछ मिठाई थी।

सुनील स्तब्ध-विस्मय से उसे देखता रहा, फिर बोला—'अच्छा चलो, तुम्हें घर पहुचा दूँ।'

झोपड़े के सामने कार रुकी। बालक के साथ सुनील भी उतर पड़ा। घर के भीतर घना अन्धकार था। दुर्गन्ध से वायु तक भारी हो रही थी। उसे लगा—जैसे उस अन्धकार की गोद से हजारों प्रेत बाँह बढ़ाए उसे निगलने को दौड़ रहे हैं। जल्दी से सुनील ने टार्च जला लिया। वह सिहर उठा। जीवन में ऐसे विस्मय का सामना करना पड़ेगा, इस बात को वह सोच तक न सका था। टूटी चटाई पर एक नरकंकाल-सी वह अर्द्धनग्ना वृद्धा पड़ी थी और एक ओर इन्द्राणी-सी सुन्दर लड़की बैठी थी। तीव्र प्रकाश से युवती ने हाथों से आँखें ढाँक लीं, किन्तु पल-भर में सुनील ने जो कुछ देखा, जीवन के आरम्भ में उतना भी तो बहुत था न!

युवती ने घूँघट में अपने को छिपा लिया। एक नोट उस लड़के की ओर फेंककर वह चल पड़ा।

उसका जीवन स्वप्निल था—समुद्र फेन-सा उत्ताल। झरने के विराम-हीन संगीत से ओत-प्रोत रहता था। प्रातः से रात्रि तक आमोद-प्रमोद, कौतुक-गीत में सुनील का जीवन व्यस्त रहता। काम-काज वह कुछ नहीं करता, जमींदारी की देख-भाल नायक-गुमाश्ते करते। इञ्जि-निअरिंग की डिग्री को कभी सन्दूक खोलकर देख लेता। बस, इतना बहुत था।

उस दिन चाय के टेबुल से सहसा उसने अपना हाथ खींच लिया। मिठाई के प्लेट ने एक सोती-सी स्मृति को जैसे जगा दिया। उसे स्मरण हो आया कि कई माह पहले एक दरिद्र बालक इसी मिठाई के लिए किस तरह से पिटा था।

वह उठा और मोटर पर जाकर बैठ गया। न कुछ सोचा, न विचारा। मोटर उस झोपड़े के सामने लाकर रोक दिया। अधीर गति से उतर पड़ा सुनील। कई बालक एक रोटी के लिए झगड़ रहे थे। प्रेत की नाईं कई स्त्री-पुरुष मिट्टी के बर्तनों में सत्तू खाने में जुटे थे।

दुर्ग्रह की भाँति सुनील भीतर जाकर खड़ा हो गया। उसका जी न जाने कैसा कर उठा। उस दरिद्र के सामने हाथ की हीरे की अँगूठी, घड़ी, चेन, सूट, बूट मानो सिमट-से रहे। जो कुछ कहना चाहता था, उसे भूल गया। स्त्रियों ने जरा सिर ढाँका, मर्दों ने मुख में ग्रास भर लिया—जैसे सत्तू को कोई उनके खुले मुख से छीन रहा हो।

"पुलिस !"—बालिका चिल्ला उठी। बस झोपड़े में वज्राघात-सा हो गया। सब स्थाणुवत् अचल हो रहे; स्त्रियाँ चीख पड़ीं।

"हम बेकसूर हैं मालिक !"—बोली स्त्री।

हँसने जाकर सुनील रक्तहीन हो गया—यह कैसी दरिद्रता, कैसी दासवृत्ति, दीनता का नग्न रूप है ! किस मनोवृत्ति, अत्याचार में पिस-कर, नित्य-अभाव से युद्ध करते-करते मनुष्य पशु के समान बन जाते हैं।—विचार करते-करते सुनील बार-बार सिहरने लगा।

"मालिक !"

"अरे भाई, डरते क्यों हो ? मैं भी तुम्हारा-सा आदमी हूँ। पुलिस, दारोगा कुछ नहीं। केवल उस लड़के की खोज में आया हूँ।"

"कौन लड़का ?"—साहस से एक ने पूछा।

"कई महीना पहले यहाँ एक बूढ़ी और वह रहती थी और लड़का—दास-बारह वर्ष का रहा होगा।"

आपस में कुछ कह-सुनकर स्त्री बोली—कान्हा की माई को पूछ रहे होंगे।

मर्द ने कहा—उनका ? उनका हाल क्या बतलायें मालिक, माँ-बेटे तो भूख से मर गये और बिटिया रुक्मिणीबाई न-जाने कहाँ चली गई।

"क्या उनके आत्मीय-सज्जन यहाँ पर कोई नहीं हैं ?"

"नहीं जानते मालिक ! साल-भर वह लोग यहाँ पर रहे। हम लोगों से बोलते-चालते नहीं थे।"

सुनील चुपचाप लौट पड़ा, मोटर पर बैठ गया। उसके मन में न-ाने कैसी व्यथा, खेद, अनुताप, अभिशाप मँडराने-सा लग गया।

यदि वह उस दरिद्र परिवार पर जरा-सी दया कर देता, तो शायद स तरह उसका विनाश न होता। वह बार-बार मन में सोचता, हता—मैं इसके लिए दायी नहीं हूँ। दुनिया में कितने ही अभागे ोंगे, जो अन्न-वस्त्र के बिना मर रहे होंगे। मैं भला किस-किस की बर लेता फिरूँ? दरिद्र तो ऐसे न मालूम कितने होंगे। अभी-अभी स परिवार को मैंने देखा है, वह भी दरिद्र है। फिर वह क्यों नहीं र जाता? किन्तु......।

इस प्रकार उत्तर-प्रत्युत्तर देते-देते वह अपने-आप थक जाता। फिर हने लगता—यदि बूढ़ी मर रही थी और लड़का छोटा था, तो क्मिणी काम कर सकती थी। बाहर जाने में उसे कौन-सी रुकावट ी? किन्तु दूसरे पल उसकी विचार-धारा लौट पड़ती और वह कहता—सा रूप-यौवन लेकर वह कहाँ, किसके द्वार पर भीख माँगने जाती!

जिस रूप, जिस सुगठित यौवन ने पल-भर में उसकी आँखों में एक गीन नशा भर दिया था, चन्दन शाखा-सी जो बाहें उसके मन में पनी सत्ता जताने को सदा उत्सुक रहती हैं और जिन मदिर भरे यनों की आकुल दृष्टि की स्मृति पल-भर में किसी के मन में विनाश-ीन हो जा सकती है, उन्हें लेकर वह बाहरी दुनिया में जाती कैसे? स वसन्त-उत्सव-से रूप को, उस गहन वन-से यौवन को वह किसके र धरोहर रख जाती!

विचार उसका यहीं न रुकता, कहता वह—तो दुनिया में क्या वही क रूपसी है? कितनी सुन्दर युवतियाँ स्वयं जीविका-निर्वाह करती हैं।

प्रश्नों को वह तभी सुलझा भी लेता—किन्तु उसकी शिक्षा शायद सी न हो। कदाचित् उसने अपने पर निर्भर करना, आत्म-सम्मान चाना न सीखा हो, और उस दरिद्र जीवन में अभिज्ञता न हो। कौन

जाने, शायद्—शायद् हठात् दारिद्र्य ने उस परिवार को घेर लिया हो! ऐसे-ऐसे न-जाने कितने प्रश्न-उत्तरों की मीमांसा करता हुआ वह बैठा रहता और दिन-रात निकल जाते।

सुनील के घर आमोद-प्रमोद की समाधि हो चुकी थी। अब जो कुछ जीवित हो उठा था उसके निकट वाद-प्रतिवाद, प्रश्न-उत्तर करते-करते वह थक चुका था—हो रहा था सुनील बलहीन, निर्जीव-सा।

कब, कौन दिन और कौन-से शुभ या अशुभ मुहूर्त में विलासिता को त्यागकर वह कुटीर-द्वार पर खड़ा हो गया, इस बात को सुनील जान तक न पाया।

असहाय, दुखी ने एक दिन विस्मय से देखा कि वही विलासी, उच्छृंखल युवक सुनील उनका केवल साथी ही नहीं, वरन् उनके धूलि-मलिन हाथ में हाथ मिलाकर, अनाहार-क्लिष्ट गले में बाँह डालकर उनके अभाव-पीड़ित कुटीर के बीच में खड़ा है। सुनील—वही सुनील, मलयानिल-सा रसीला, इन्द्र-सा रँगीला।

(३)

ज्येष्ठ की चम्पा की हँसी मलिन हो चुकी थी। कोकिला कुहुक रही थी—क्लान्त-सी, मूर्च्छित-सी।

कोकिला की उस क्लान्त पुकार में न-जाने कौन-सा नूतन या पुरातन परिचय छिपा हुआ था, जिसने उसके हृदय की ग्रन्थियों को शिथिल कर दिया।

'ए' क्लास का क़ैदी सुनील कमरे से निकलकर उस छोटी-सी फुलवारी में टहलने लगा। आम की डाली पर बैठी कोकिला वैसे ही रह-रहकर पुकारने लगी। सामने के वट के नीचे बैठे कई क़ैदी सुस्ता रहे थे। फुलवारी को सींचने आये थे वे। अधिकारी कोई थे नहीं, जरा-सी खुशी तब क्यों न मना ली जाय?

धीरे-धीरे चलकर सुनील वट के नीचे पहुँचा। उसे देखकर सब चुप हो रहे।

एक तो वह ए क्लास—याने स्वर्गलोक में रहनेवाला स्वराजी बाबू कैदी, दूसरे जेलर साहब तक उससे सदय व्यवहार करते, तीसरे स्वादिष्ट भोजन, आराम-चैन की सभी वस्तुएँ। यहाँ तक कि एक आईना भी उसके कमरे में लटकता हुआ देख पड़ता था, फिर वे क्यों न उसका सम्मान करते ?

सुनील हँसा—खिन्न मलिन हँसी। पूछा—क्या चर्चा हो रही थी? उसी चुड़ैल की ?

'हाँ बाबू, कल वह फिर इसी झाड़ पर पैर झुलाती बैठी थी।'

सुनील कौतुक से हँसा—फिर ?

'बड़े मियाँ ने जैसे ही क़ुरानशरीफ़ उठाई, वैसे ही वह भाग निकली। देखना बाबू, एक दिन धोखा न दे तो कहना। एक-न-एक को वह लेगी ही। बिना मौत का मरना हँसी-खेल नहीं है।'

'बिना मौत ? क्या उसने आत्महत्या की थी ?'

'नहीं तो क्या ? गले में अपनी साड़ी बाँधकर मर गई, भले घर की-सी जान पड़ती थी। पेट में शायद बच्चा था।'

'अरे नहीं। कहाँ का बच्चा ! वह तो क्वाँरी-सी लगती थी। रोती बहुत थी। और तो किसीसे नहीं, लेकिन मैं बूढ़ा आदमी ठहरा, मुझसे कभी ज़रा बोल लेती थी। कुल चार दिन रही थी। फैसला तब नहीं हुआ था। नन्हा-नन्हा कहा करती थी। शायद वह उसका भाई था, मर गया था। एक दिन ज़रा कह उठी थी कि किसी महाजन की लड़की थी। सट्टे में बाप सब कुछ खो बैठा और मर गया। मुझे तो लगता है, उसके बाप ने जहर खाकर प्राण दे दिये। बाबू, क्या कहें, ऐसी भली लड़की और ऐसी परी-सी सुन्दर।'

'नन्हा कहती थी ? उसका नाम क्या था ?'

'भला-सा तो नाम था—रुक्मिणी बाई।'

सुनील कमरे में लौट आया, अपने-आप मुसकराने लगा—छिः, कैसी कुशिक्षा है, मानो भूत-प्रेत इनके सगे-सम्बन्धी हों, एक पत्ता हिला कि चुड़ैल को देखा। कहाँ का भूत और कहाँ का प्रेत। सब मन की भ्रान्ति और कुसंस्कार का फल है।

रात में सुनील बाहर टहलने लगा। न-जाने कौन-कौन-सी बात सोचकर वह मुसकराता जाता था। घंटे-दो-घंटे टहलकर वह कमरे में लौट आया। कमरे में प्रवेश करते समय उसकी दृष्टि सामने के दर्पण पर पड़ गई। वह छोटा-सा दर्पण दीवाल पर लटकता रहता था।

उसने दोनों हाथों से आँखें मलीं। फिर देखा और फिर देखा। स्त्री थी—परम सुन्दरी स्त्री। उसका मुख दर्पण में जैसे चिपक गया हो। सुनील ने अपने हाथ-पैर हिलाये, सोचा—कहीं स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं? और तब उसने पूर्ण दृष्टि से उस ओर देखा—अनुपम सुन्दरी थी। भूल नहीं, भ्रान्ति नहीं, स्वप्न नहीं; थी—थी वह स्वर्ग की इन्द्राणी, पारिजात-वन की रूप-परी। एक विह्वल दृष्टि से दर्पण में झाँक रही थी। उसने और भी देखा—ध्यान से देखा—उन आँखों की उस अद्भुत दृष्टि को। वह सिहर उठा—कौन-सी अतृप्त आकांक्षा ने, कौन-सी अपूर्ण तृष्णा ने युवती की दृष्टि में सर्वग्रासी क्षुधा को इस तरह मूर्त कर दिया है। किन्तु इस मुख को तो वह शायद कुछ-कुछ पहचानता है न? सहसा सुनील खुशी से मचल पड़ा—हाँ; रुक्मिणी ही तो है।

"यहाँ कैसे आई रुक्मिणी?"—सुनील कमरे में जाकर खड़ा हो गया।

खुली खिड़की से हवा के एक झोंके ने आकर टिमटिमाते दीपकों को बुझा दिया और उस अन्धकार के स्तर में कोई जी खोलकर हँस पड़ा। बस, उसके बाद सब स्थिर, घोर और शान्त हो गया। सुनील को

लगने लगा उसके चहुँओर कोई फुसफुसाकर हँस रहा है, और पवन में एक अतृप्त आकांक्षा तृप्त होने के लिए अधीर हो रही है। विस्मित, विह्वल सुनील रोमांचित होने लगा। उसी तरह वह खड़ा रह गया।

चहुँओर की अतृप्त आकांक्षा के निविड़ जाल से वह भागता कैसे? जाता भी तो जाता कहाँ?

घड़ी में रात दो की घण्टी बोली। खिड़की के बाहर पेचक कराह उठा, दाहिनी ओर निशाचर पक्षी पुकारने लगे। सुनील सचेत हुआ। हाथ-पैर हिलाना चाहा, किन्तु शरीर पत्थर जैसा भारी हो रहा था।

उसने बत्ती जलाई और जोर से हँस पड़ा। विचार उठा वह—पागलों जैसा वह इस तरह क्यों खड़ा रहा?

उसकी हँसी की प्रतिध्वनि उसी का व्यंग करने लगी। आश्चर्य-चकित नेत्रों से उसने आईने को देखा। कहीं कुछ नहीं था। अपनी नादानी पर वह अपने-आप लज्जित होने लगा।

(४)

दिनभर सुनील इधर-उधर टहलता रहता, किताबें पढ़ता, क़ैदियों से बातें करता; किन्तु सन्ध्या होते-होते उसका मन एक अपूर्व पुलक, अनजान मोह से भर उठता। स्वप्नाविष्ट की भाँति वह द्वार पर खड़ा हो जाता और परियों की वह रानी उस दर्पण में मुसकरा पड़ती। वह घण्टों वहाँ आविष्ट-सा खड़ा रहता।

फिर दिन आता, वह अपने को धिक्कारता, दर्पण की ओर देखकर भी नहीं देखता। किन्तु फिर भी वह आकुल-आग्रह से सन्ध्या की प्रतीक्षा करता। कोई अदृश्य शक्ति उसे द्वार तक खींच ले जाती। रात की घड़ियाँ रंगीन सपने-सी कट जातीं। और दिन के प्रकाश में रह जाती उसकी अवसन्न देह एवं मन, और—और तृष्णातुर ओष्ठाधर।

उस दिन न उसने कुछ सोचा और न विचारा। उठा और दर्पण को उतारकर ट्रङ्क में बन्द कर दिया।

पृथ्वी के प्राङ्गण में उजेला था, कवि के नूतन छन्द-सी रुपहली चाँदनी वहाँ पर बैठी मुसकरा रही थी। चारों ओर एक मीठी खुशी, एक अल्हड़पन छाया हुआ था।

उस चाँदनी में रीझा-सा, मस्ताना-सा सुनील फुलवारी में खड़ा अपनी कल्पना में विभोर हो रहा था। उस दर्पण को बन्द कर वह जैसे राज्य जय कर चुका था। सब चिन्ताओं को हराकर वह दरिद्र जीवन के अभाव, व्यथा से परिचित होने के लिए चेष्टा करने लगा।

किन्तु उस परिचय के सिंहद्वार पर जो लज्जामुखी तरुणी आकर अड़ जाने लगी उसे वह किसी प्रकार अस्वीकार भी तो नहीं कर सकता था।

विचार उठा सुनील—अपने हाथों उसने सब कुछ नष्ट कर दिया। यदि वह चाहता तो रुक्मिणी उसकी पत्नी हो सकती थी और सो भी सहज में। वह तिलोत्तमा, स्वर्ग की विद्याधरी—जिसके अणु-परमाणु में संगीत का झरना भरा था? जिसके अङ्ग में रूप नहीं समाता था, वह—वैसी—एक—उसकी ही हो सकती थी। और न भी होती तो क्या हुआ? अनन्त पृथ्वी में वह रह तो सकती थी। जरा-सी जगह उसके लिए क्या वह नहीं बना दे सकता था? किन्तु क्यों? केवल मनुष्यता के नाते।

वह आँख बन्दकर सोचने लगा—न-जाने वह कैसा दुःख, कौनसी भयानक स्थिति अथवा अपरिसीम लज्जा ने उस रूपसी को आत्म-घातिनी बना दिया:

जोकि शायद प्रेयसी, प्रिया, सहधर्मिणी, माता होने के लिए जनमी थी, एक दिन जिसका निविड़ यौवन पति के पैरों-तले न्योछावर होकर मातृगर्व से धन्य हो सकता था। और उसका निपटारा जब जेल की बन्द कोठरी में हो गया, तब किसी ने लौटकर एक बार देखा तक नहीं। विचार तक नहीं किया, कि केवल नर के उपभोग की नारी ही नहीं, वरन् नर की जननी, माता की मृत्यु किस तरह हो रही है। देखने को कौन कहे, वरन् उसने उसके गले में फाँसी की डोरी

लटका दी। और उसकी मौत—नर की जननी की मौत रात में—नीरव अकेले में हो गई।

सुनील विकल हो पड़ा—कहाँ चली गई वह समुद्र की जलकन्या?

फुलवारी के सहस्र सुगन्धित पुष्पों पर बैठी हुई स्वर्ग की अप्सराएँ हँस पड़ीं—वही दबी हुई हँसी।

सुनील कान लगाकर सुनने लगा, पायजेबों की रुमझुम झंकार डाल-पत्तों में छिपने लगी और चारों ओर का पवन हलका हो गया। उस हलके पवन में हलकी हँसी उसे अपनी ओर खींचने लगी। वह पुलक-विह्वल हो गया। सामने—बहुत ही निकट आकर रुक्मिणी बैठ गई।

"सुनते हो!"—पुकारा रुक्मिणी ने। कहने लगी वह—"मेरे उस सुख को, उस आनन्द-सन्तोष को तुमने मुझसे क्यों छीन लिया? आईना कहाँ छिपाकर रख आए? अपनी सुन्दर आकृति को उसमें कभी देख लेती थी, वही मेरा सुख और स्वर्ग था। लोग मुझे सुन्दरी कहते थे, किन्तु उस दरिद्रता के भीतर मुझे अपने-आपको देखने का वक्त कहाँ था? एक टूटा, धुँधला दर्पण बच रहा था। काम-काज से निपटकर कभी उसे देख लेती थी, किन्तु साफ कुछ नहीं दीखता था। तुम्हारा दर्पण कैसा स्वच्छ, सुन्दर है। क्या जानूँ कि मैं ऐसी सुन्दरी, ऐसी रूपसी हूँ। जरा तो देख लेने दो। सुनते हो?"

आँखें मलकर सुनील घबराना-सा उठ बैठा। चहुँ ओर आतुर ज्योत्स्ना वैसी ही पड़ी मुस्करा रही थी। पहरेदार वैसे ही पहरा दे रहे थे, झाड़-पेड़ वैसे ही निद्रालु-से खड़े थे।

नहीं, कहीं कुछ परिवर्तन नहीं था।

वह केवल सपना था। विचार उठा सुनील, फिर कमरे में जाकर सो रहा।

(५)

गहरी रात। पृथ्वी शान्त, धीर, स्थिर थी। केवल वन-उपत्यका

की परियों की रंगशाला में तब भी स्वर्ण दीप जल रहे थे, और हास्य-कौतुक से गुलबकावली उतनी रात गये भी पलने पर बैठी झूल रही थी।

सुनील सोते से जाग पड़ा। उसे लगा—कोई उसके बिस्तर के चहुँ-ओर घूम-घूमकर गिड़गिड़ा रही है, सिसक-सिसककर कह रही है—अरे निर्मोही, मेरी शान्ति छीनकर तुम कौन-से धन के प्रभु बन जाओगे? दे दो मेरी चीज। मुझे वापस कर दो। दर्पण दीवाल पर टाँग दो, जी भरकर मुझे अपना रूप देख तो लेने दो। दे दो।

व्याकुल बाँह बढ़ाकर सुनील ने पुकारा—'रुक्मिणी, तुझे कौन-सी चीज अदेय है? आईना तो एक छोटी चीज है।

किन्तु किसी ने उत्तर नहीं दिया। उसका स्वर घर के कोने-कोने में मँड़राने लगा, मूर्च्छित-सा लोटने लगा, दीर्घ श्वास वायु में भर उठा।

वह चौंककर उठ बैठा। बत्ती जलाई और बिस्तर देखने लगा। अपने को समझाने लगा—वह कल्पना है, है झूठा सपना। कहने को तो सुनील इतना कह गया, किन्तु फिर भी मन्त्रमुग्ध की भाँति ट्रङ्क के पास चला गया, उसे खोला, दर्पण निकालकर दीवाल पर टाँग दिया। बत्ती तेज कर वह स्पन्दनहीन नेत्रों से, एक भक्त की भाँति दूर खड़ा आईने को देखने लगा।

रात बीत गई, दिन का प्रकाश फैल गया। न सुनील को बोध था, न संज्ञा थी। वार्डर ने आकर जब उसे हिलाया, तब अचेतन शरीर उसका जमीन पर लोट गया।

× × × ×

जेल के अधिकारी कहते—सुनील पागल हो गया है। शायद हो गया हो। कदाचित् दर्पण की मोहिनी के रूप के मोह की छाया उसके हृदय में पड़ गई हो, या और कुछ हो। शायद,—कौन जाने? और यह भी कौन कह सकता है, कि उसका वह मोह यदि मोह ही था, तो वह क्षणस्थायी था—वह जीवन का साथी?

उन्नीस सौ पैंतीस

(१)

निशाचरों के मल्ल-युद्ध से गहरी रात व्यस्त, त्रस्त, मथित हो रही थी। मेघ के रन्ध्रों से बिजली कभी हँस दिया करती और गरुड़ की पीठ पर बैठा मस्ताना पवन उस अनोखी सारंगी में ध्वंस के राग अलाप उठता। तरु-पल्लव श्यामल मिट्टी के अञ्चल में सो रहते, बूढ़े पेड़ जड़ से उखड़ पड़ते, पर्ण कहीं दूर जा गिरते, पक्षी एक दूसरे के आलिङ्गन में बद्ध हो रहते और गृहस्थ उस प्रलय की ओर भीत नेत्र से देखते, शिशु विस्फारित। होली मची थी—प्रलय की होली। मेघ, वायु, आँधी, पानी और पृथ्वी के धूलि-कण को लेकर आकाश के देवता फाग खेलने में बावले थे। सविता—लाल गुलाल-सी सुन्दरी-ललाट के इङ्गर-विन्दु-सी सविता—उस प्रलय को आलिङ्गन करती भागी चली जा रही थी। कभी आँधी के झोंके से दस हाथ पीछे जा गिरती, कभी आगे, कभी किसी वृक्ष के आलिङ्गन में मच्छातुर की भाँति घंटों पड़ी रहती। उस अन्धकार की गोद से काले-काले प्रेत उसे निगलने दौड़ते, बिजली-किरण-सी उनकी आँखें कभी चमक उठतीं, वह आँखें बन्द कर लेती। पत्तों के सिहरन से प्रेत-पत्नी के अलङ्कार का अनुमान होता, सविता चिल्लाना चाहती, किन्तु स्वर कण्ठ में मूर्च्छित हो जाता। वह आँखें खोलती, धीरे, एक अपराधी बालिका-सी। आँधी, वायु, कुछ थक-सी जाती, श्वास रोककर सविता भाग निकलती। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—इन चार दिशाओं का बोध उसको रह नहीं जाता। वह अपने-आप अनजान रह जाती—घर किस ओर है। यदि जानती तो केवल इतना ही कि उसे भागना है; उस प्रलय से अपने को बचाना है।

क्या कहीं वैसी सुन्दर पृथ्वी हृदयपूर्ण आशा को छोड़कर, वह किस एक आनजान देश में जायगी ? मालिन-से कोमल जीवन का अभी प्रभात मात्र है ; आशा की नदियों का तो केवल यौवन आरम्भ है। फिर वह चिरञ्जीवी क्यों और किस दुःख से ?—हाँ, पिता माता के अगोचर में लोग कहते अवश्य—वह विधवा है ; कोई कहता—नहीं, विवाह-रात्रि से पति निरुद्देश्य है ; कोई कह बैठता—जमाई वैरागी हो गया है ; कुम्भ के मेले में उस आकृति का साधु मिला था। कोई निश्चय दिलाता—विवाह-रात्रि में वह हैजे से मर चुका था ; कन्या के वैधव्य को छिपाने के लिए पिता का यह मिथ्या प्रचार है। सखियाँ आशा-आश्वास को दृढ़ कर देतीं—"या तो बहन तुम कुमारी हो और नहीं तो वह आयेंगे, तुमसे छिपकर कबतक संन्यासी बने रह सकते हैं ?" पिता-माता मौन रहते।

और सविता ? वैशाख-संध्या-सी, द्राक्षा-लता-सी सविता कल्पना-लोक में विचरती-फिरती ; कल्पना के हरे बाजरे के खेत में हज़ारों श्यामा, बुलबुल चहक उठतीं ; लज्जावती लता आँखें खोलती, पारिजात-वन में इन्द्र भटकता फिरता। कभी अतीत की ओर दृष्टि दौड़ाती—नहीं, मसी-विन्दु के सिवा वहाँ कुछ नहीं दीखता। स्मृति के झरोखे से झाँकती—न कोई विवाह-सभा दीखती, न कोई वर, और न वधू के घूँघट में मोती की झालर ही। रहता केवल अन्धकार और अन्धकार। यदि कुछ दीखता तो शङ्का, अनुसन्धित्सा और प्रश्न मात्र—कुमारी, विधवा एवं सीमन्तिनी को लेकर।

माता का निषेध वह न मानती, सखी-सहेलियों के साथ सविता चल पड़ती, ग्राम-देवता का पूजन करती। लौटते समय तूफ़ान उन सबों से उसे अलग कर देता व केवल एक अन्ध-विश्वास, आशा केवल पर तो वह शहर से कोई छः मील बाहर जाती ही, कि उनके पूजन की कामना सफल हो जाती है। सखियाँ कहा करतीं—"वैसे जागृत

देवता कहीं हैं नहीं।" गाड़ी और मोटर से वह मुँह फेर लेती—पैदल गये बिना कहीं राम मिला है ?

मेनका, रम्भा पूछतीं—"बहन, कौन-सी कामना, प्रार्थना करोगी ? उनसे क्या माँगोगी ?"

वह गम्भीर होकर मुँह फेर लेती,—इस स्पर्द्धा का भी कोई अन्त है ?—वह विचारती—देव-द्वार पर चाहे मैं कुछ भी भीख माँगूँ, इससे संसार को सम्बन्ध ? प्रश्न और मीमांसा वह पलभर में कर डालती—यदि वास्तव जीवन माँगूँ, सुखशान्ति माँगूँ, सीमन्त का सिन्दूर माँगूँ, प्रिय प्रियतम माँगूँ, मुक्ति-विराग माँगूँ; प्रेम-प्रेमास्पद माँगूँ। विद्या—ज्ञान, सेविका का धीरज माँगूँ, और यदि मैं मौत ही माँग बैठूँ, तो इससे किसीको मतलब ? मयूर-सिंहासन पर बैठा राजा यदि देश-विशेष का प्रभु है, तो अन्तर के अन्तस्तल में मैं भी उस देश की एकछत्र रानी हूँ।

(२)

सविता मूर्ति-मोहिनी-सी, कोकिल-काकली-सी, गोधूली-कुञ्ज-सी रूपराशि सविता भागी चली जा रही थी। एक गुरु-गम्भीर निनाद से भूचर-खेचर स्तब्ध रह जाते। सहस्र बिजली-मिलित एक भीति-प्रद शिखा, उसके बाद वह श्यामाङ्गी लड़की किसी बड़ी वस्तु से टकरा जाती। बोध और चेतना उसका साथ छोड़ देतीं।

गुरु पतन-शब्द से संन्यासी उग्रसेन आँखें खोलता। उस विध्वंस के आँचल में एक सुकुमार स्पर्श से कदाचित् उस वैरागी-हृदय में जरा-सा स्नेह, थोड़ी कोमलता आ जाती, कदाचित् निर्विकार रह जाता; परन्तु दूसरे पल वह उठता, मन्दिर-द्वार खोलकर बेसुध सविता को भीतर ले आता। द्वार भीतर से बन्द कर उग्रसेन दिया जलाता। क्षीण शिखा से मन्दिर का कुछ अंश मात्र आलोकित होता। किसी ओर देखे बिना संन्यासी आले पर की पोटली उतार लेता, कुछ जड़ी, एक छोटा खल

निकलता। दवा प्रस्तुत होते देर न लगती, सविता के निकट वह बैठ जाता। देर के बाद उसकी दृष्टि सविता पर पड़ती। वह चौंकता। मिनट-भर स्तम्भित रहता, अचल-सा, भूला-सा। किसलिए और क्यों? सो वह शायद स्वयं ही नहीं जानता, या तो जानता। शायद वैसी रात में उसका संन्यासी-हृदय एक तरुणी की कल्पना कर न पाया हो, स्त्री के स्थान में पुरुष को देखना निश्चय हो या और कुछ हो। शायद—कौन जाने—नहीं, संन्यासी सहमा, उसी दूसरे छोटे-से पल में। एक बार द्विधा सङ्कोच किया-न-किया नब्ज़ पर अँगुली रख दिया। चम्मच से दवा पिलाता।

एक-दो, धीरे-धीरे पाँच मिनट निकल जाते। बाहर दैत्य-दानवों में वैसा ही मल्ल-युद्ध चलता रहता, मन्दिर-देवता वैसे ही अलसाये नेत्रों से देखते और तैल-दीप उसी भाँति स्निग्ध प्रकाश से हँसता रहता।

सविता की—ताजमहल की यमुना-सी, योगिनी के रुद्राक्ष-सी सविता के श्याम मुँह के आयत लोचन की दृष्टि युवक-संन्यासी के मुख पर गड़-सी जाती। सविता की दुनियाँ मृत्यु-लोक से विदा ले जाती, जीवित रहती इन्द्रलोक में—उसी पल में, जिस पल में वज्राघात के भीषण शब्द से उसका बोध जाता रहता। मौत के पीछे वह धूप-धूनी में रमी-सी वायु में आती और इस इन्द्र के सामने अतीत और भविष्य एकाकार हो जाता, रहता केवल वर्तमान। उसकी बन्द कोठरी की हँसी की जञ्जीर खुल जाती, उस हठात् पाने की तुलना न कर पाती और न उस चकित दृष्टि ही की।

धीरे-धीरे उद्दाम प्रकृति शान्त हो जाती। आकाश-हृदय में चाँद का टुकड़ा झाँकने लगता। जञ्जीर-स्वर से उसके ध्यान की तन्द्रा टूट जाती, वह आश्चर्य-चकित दृष्टि उठाती।

संन्यासी की वाणी मूर्त हो उठती—"पता कहने से मैं पहुँचा आ सकता हूँ।"

वह अपनी सत्ता को समेट लेती। समझ पाती, वह जीवित है और उसी पुरानी दुनिया में।

शब्द उसके कण्ठ में सो रहता, वह उत्तर दे न पाती।

विरक्त स्वर ध्वनित होता—"भद्रे, मेरी साधना का समय उपस्थित है।"

"तो मैं क्या करूँ?" कह उठती सविता।

"घर का पता कहो।"

"घर?" मानो वह स्वप्न से जागती।

कुछ देर संन्यासी प्रतीक्षा करता, पुनः कहता—"घर, तुम्हारा घर कहाँ है?"

"यही तो है।" अपने अनजान में वह कह बैठती।

"किन्तु यहाँ नारी का स्थान कैसे हो सकता है?" बस सङ्कोच-द्विधा-व्यथित स्वर की झङ्कार सविता के अन्तर में हो जाती; कदाचित् निरन्तर और सतत के लिए।

"चलो"—संन्यासी का स्वर रूखा सुनाता।

"कहाँ?"—वह फिर भी पूछती।

इसके बाद संन्यासी उठकर खड़ा हो जाता। और सविता? मन्त्र-मुग्ध की नाईं उसके पीछे चल पड़ती।

(२)

आलस, निद्रालु गति से सविता उस समय घर लौटती, जिस समय उसके लिए घर में हाहाकार मचा होता। माता-पिता उसे हृदय से लगाते, नानी-दादी गोद में लेतीं; वह बार-बार पीछे रह-रहकर देखती, उग्रसेन का कहीं पता न चलता।

गहरी रात में वह शुभ-शय्या पर पड़ रहती—क्लान्त-सी, आतुर-सी। निकट के गिरजे से बारह की घण्टी होती, एक गुरु-गम्भीर रव दीर्घकाल तक स्थायी होता। और सविता, सरस्वती की वीणा-सी,

पावन-दीवट-सी सविता आकुल होकर उठ पड़ती। वह कैलेण्डर की ओर देखती सब कुछ खोयी-सी, लुटी-सी।

उस ध्वनि को कान लगाकर सुनती, घड़ी में बारह बजता। फिर कैलेण्डर को देखती, सविता विकल होकर रो पड़ती। उन्नीस सौ पैंतीस सबको विदा देते, उसकी अन्तर्वेदना आघात से जर्जरित होती, कलेण्डर को वह हृदय से लगा लेती।

"कहाँ जाओगे तुम? ये बारह महीने जिनके हर पल के पद-चिह्न मेरे जीवन की हर घड़ियों में अँक गये हैं, जिनके शङ्ख-निनाद से मेरा श्वास बसा हुआ है, उन पलों को लेकर तुम कहाँ भागना चाहते हो? जिसके प्रत्येक सेकण्ड में मेरा परिचय एकाकार हो चुका है, जिन चञ्चल क्षणों में मेरा इतिहास छप चुका है, जिन्हें मैं पहचानती हूँ अपने से भी अधिक, जो मेरा प्रिय प्रियतम है, उसे आज मुझसे वह कौन-सा निर्मम छीनना चाहता है? यदि तुम्हें जाना ही था, तो आये ही क्यों? मेरा सब कुछ लूटकर—भिखारिन बनाकर कहाँ भागना चाहते हो?" सविता कान लगाकर उस निनाद को सुनती। कभी कैलेण्डर देखती और आँसू बहाती।

स्मृति-जड़ित वे पल, जो उसे सदा पुकारा करते थे, उन्हें पलभर में वह कैसे विदा कर दे? वह अमर परिचय तो एक दिन का था नहीं, बारह महीने का, प्रत्येक सेकण्ड का घनिष्ठ परिचय! न कहीं छिद्र था और न कहीं हलकी-सी रेखा। अंगूर-रस-भरी प्याली-सा वह परिचय मधुर, कटु, नशीला है, तो रहने दो; किन्तु है तो वही उसकी परियों की रङ्गशाला, स्वर्ग, बात-की-बात में वह उसे कैसे तज दे? नहीं, वह नूतन नहीं माँगती, पुरातन ही उसका श्रेष्ठ और सर्वस्व है। जिस पुरातन के अणु-परमाणु में उसका जीवन मुखरित हो रहा है, जिसकी भाषा उसके हृदय में सुपरिचित है, जो अपना सञ्चय बटोरकर उसके मन की किसी गोपन कोठरी में रख चुका है, उसे वह छोड़ दे?

वह विचित्र ध्वनि धीरे-धीरे रात की वायु में सिमटने लगती, सविता की आँखों में श्रावण की धारा बह चलती।

एक ओर उन्नीस-सौ पैंतीस सन् की मौत—रात की धूमायित षोड़शी की गोद में हो रही थी, दूसरी ओर सविता—इमामाड़ी लड़की सविता सिसक रही थी। वह कहीं भाग न सकती थी और न उसकी मौत ही को देख सकती थी।

उसकी मौत ? नहीं, वह देख नहीं सकती थी। जो उसके जीवन में एक स्वतन्त्र, एक निजी, एवं वास्तविक स्थान बना चुका था, ऐसे एक की मृत्यु देखने का धीरज उसमें था कहाँ ? तितलियों-सा वस्त्र पहने, मधुकर के गीत में बसे, वर्षा की बूँदों में क्रीड़ारत उस सुन्दर की मौत को वह सहती कैसे ?

कभी एक दिन—जिसके किसी एक शुभ पल में कवि की अमर वाणी निकली होगी, उपन्यासकार को सम्राट् की उपाधि मिली होगी, शिल्पी जगत् पर जय पा गया होगा, साधक सिद्ध हुआ होगा, ब्रजवासिनी को प्रीतम मिल गये होंगे, निर्धन धनवान् बन बैठा होगा, विरही की प्रेयसी आ गई होगी और नारी माँ बन बैठी होगी—उसे बिदा देना क्या सहज था ? जिसके प्रत्येक पल के कौतुक, विच्छेद, मिलन, हँसी-खेल आदि विश्व की नसों में इन्द्रजाल बुना करते हैं—उस प्रिय, उस अप्सरा की मौत वह देखती कैसे ?

घड़ी वैसी ही टिकटिकाती और धीरे-धीरे काँटा मिनटों को लाँघता; वह ध्वनि मूर्च्छित-सी अस्पष्ट होती, सविता उठ पड़ती, उस कम्बल को ओढ़ती—जिसे उग्रसेन ने उसे उढ़ाया था, और कैलेण्डर हृदय से लगाती—उस भाँति जिस प्रकार सन्तान-विच्छेद-कातरा माता मौत के बाहु से उसे बचाने के लिए विफल प्रयास करती है। द्वार पर आघात होता, माता पुकारती—इतनी रात गये क्या कर रही हो सविता ?

द्वार खुलता और उस विवर्ण मुख के प्रति देखकर माता सिहरतीं—"सविता !"

"माँ !"

उस अश्रु-कलङ्कित स्वर से माता अवाक् रह जातीं।

"क्या तू रो रही थी ?"

वह चुप रहती।

"कौन-सा अभाव है तुझे ? बोलती क्यों नहीं ?"

वह निरुत्तर रहती।

"ऐसी कौन-सी वस्तु है—जो तेरे लिए आ नहीं सकती ? एक बार मुँह से निकाल भी तो।"

"उन्नीस-सौ पैंतीस सन् अभी-अभी मर चुका था; वह अब न लौटेगा, छत्तीस सब खा गया।" आँसू को वह रोक न पाती। आवाज़ भारी होती।

माता खिलखिला पड़तीं।

विराग, वितृष्णा से वह मुँह फेर लेती। उसकी व्यथा, दुःख, अभाव को दुनिया न समझेगी। वह विचारती, बहाना करती—"नींद आ रही है।"

"सो रहो, बेटी ! यहाँ कुछ भी अमर नहीं होता। यह तो सन् ही है। विच्छेद यहाँ अवश्यम्भावी है। दुनिया सुनेगी तो हँसी उड़ायेगी।"

"क्यों ?"

"तुच्छ सन् के विच्छेद में भी कोई रोया है ?"

उसका चेहरा शव की नाईं रक्तहीन हो जाता, तुच्छ ? सन् की मौत को लोग तुच्छ समझते हैं ? वह समझाना चाहती कि वह उसके लिए तुच्छ नहीं है, वरन् वही उसका वास्तविक जीवन है; किन्तु एक विराम-हीन व्यथा, अभिमान उसे मूक बना देता। माता चली जातीं और वह बावली-सी कमरे में टहलती रहती।

(४)

शेष प्रहर का अभिनव प्रकाश कमरे के एक अंश में आकर गिरता; शुक्र तारा नित की भाँति खुली खिड़की से झाँकता, गलित बर्फ़ की-सी हँसी चाँद के टुकड़े में से झर पड़ती, घर का दीप म्लान होता, विपुल पुलक से अश्वत्थ के पत्ते झूमने लगते। आकाश-झरोखे से इन्द्राणी झाँकती और सविता, वृन्दावन की कुञ्ज-लता-सी सविता के श्यामल मुख पर गम्भीरता आ जाती।

कम्बल ज़मीन पर लोटने लगता, कैलेण्डर हृदय से दूर जा गिरता। धीरे-धीरे वह खड़ी हो जाती, कम्बल को तह करती, कैलेण्डर उठा लेती, बाहर पैर बढ़ाती, वह श्यामल लड़की सविता बाहर पैर बढ़ाती। माता पुकारती—"कौन जाता है ?"

वह उत्तर न देती। उद्यान पार करती।

माली आवाज़ लगाता—चोर, चोर।

शीघ्र गति से वह निकल जाती। पथ के दोनों ओर वृक्षों पर श्यामा, बुलबुल धूम मचाती। सिर पर काग पुकार चलते। आकाश-तले चील तैरती और पथ की धूलि मानव-इतिहास से वैसी ही वाङ्मय होती।

वह कभी आकाश की ओर देखती—न देखती। नर्मदा के पथ को निर्जन पाती। वह चलते-चलते थक जाती। हाँफने लगती; किन्तु गति की तीव्रता में कमी न होती। नर्मदा के विशाल तट पर सविता पहुँच जाती। उसे देखकर बगुले पंख हिलाते। स्वच्छ नर्मदा थम रहती; नाव पर के नाविक डाँड़ खेना भूल जाते। चाँद आकर जल पर स्थिर हो जाता, तारे आकाश-हृदय में छिपने लगते; अप्सराओं की रङ्गशाला में कौतुक मचता और हरे नारियल जल में लुढ़क रहते।

सीढ़ियों को तय करती तरुणी जल तक उतर जाती, कम्बल और कैलेण्डर हाथ में ले लेती; कुछ देर चुपचाप खड़ी रहती; फिर वह हाथ

उठाती; शायद उन वस्तुओं को नर्मदा में विसर्जन करना चाहती या नर्मदा के तल-देश में उन्हें छिपाना चाहती, नहीं तो उन्हें भूलना चाहती। हो सकता है—जल के आश्रय में उन्हें निरापद करना चाहती।

परन्तु उसके उत्थित बाहु वैसे रह जाते; संन्यासी उग्रसेन पर उसकी दृष्टि जा गिरती। संन्यासी के नेत्र उसके मुँह पर स्थिर हो जाते।

कम्बल और कैलेण्डर सविता के हाथ में चुम्बक की नाईं चिपक रहते। वह चेष्टा करती, किन्तु अचल हाथों को हिला न पाती।

कल-कल स्वर से एक ओर नर्मदा उसे पुकारती, दूसरी ओर संन्यासी के नेत्र में एक विचित्र दृष्टि व्याप जाती। उधर उन्नीस-सौ छत्तीस का प्रभात पृथ्वी की धूलि में लौट पड़ता।

——

ललिता की डायरी

ललिता की डायरी से—

१९३९—दीपावली की प्रथम रात्रि। गत वर्ष की वह दीपावली रात, आज जैसी जीवनी में भरी—भारतवर्ष की वह दीपावली रात्रि। सहस्रों दीप की माला पहिने हुए वह दीपावली रात्रि—आज की जैसी थी वह वर्ष-भर की एक ही दीप-शिखर में बैठो हुई रात्रि। जन विरल केवल मेरी ही इस एकान्त कुटिया के चारों ओर अन्धकार की नदी उमड़ रही थी।

मेरी झोपड़ी? किन्तु नित्य के अन्धकार से और आज की इस अँधेरी में अन्तर कुछ रह ही जाता है न। आज का यह अन्धकार चहुँओर के दीप प्रकाश से ठुकराता बिछुड़ता हुआ शहर के इस कोने में समेट रहा है।

उस दिन भी इस अन्धकार ने मेरी ही झोपड़ी के चहुँओर इसी भाँति आश्रय ले लिया था। मेरा सुरेश—वह नन्हा-सा सुरेश झोपड़ी में पड़ा-पड़ा निहार रहा था, या तो शायद उस अन्धकार से आँख-मिचौनी खेल रहा था। मेरी साँस जब उस अन्धकार में रुकने को हुई, तब उठी मैं।

"दीदी!"

रोग-खिन्न उस स्वर की झंकार मेरे मन में एक भँवर की सृष्टि कर बैठी।

क्यों? सो कौन जाने। नित्य उस स्वर को सुना करती हूँ। और फिर मेरी तरह उस स्वर से परिचित है ही कौन? माँ इसे मेरे ही हाथों

सौंप गई है, किन्तु न-जाने क्यों उस दिन उसके स्वर में विश्व की कौन-सी निराशा, कौन-सा दुःख समा रहा था। चलने से रुकी, उसके सिर-हाने जाकर बैठी—

"भैया !"

"यहाँ दर्द दीदी !"

उसकी छाती पर हाथ फेरती हुई मैं बोली—"ज्यादा है? अभी मालिश किये देती हूँ।"

"क्या होगा मालिश से? कई माह तो हो गये। दीदी, अपने वह खुशी-भरे दिन—"

"चुप-चुप सुरेश ! दुनिया सुन लेगी उस ऐश्वर्य की बात को।"

"तो इससे क्या ?"

"हँसेगी न ?"

"हँसने दो। वह राजप्रासाद-तुल्य अट्टालिका—"

"चुप-चुप सुरेश, हमारा घर यही झोपड़ी है।"

"यही झोपड़ी ?"

"हाँ, यही झोपड़ी, जिसमें दुनिया का वास्तविक जीवन रमा हुआ है।"

'दीदी !'

"सो रहो, मालिश कर दूँ।"

रात के अँधेरे में अकेली मैं तब बाहर आकर खड़ी हो गई थी। मुझे लग रहा था—शहर-भर के दीप मानो इस अन्धकार के प्रति निहारकर हँस रहे हैं। अन्धकार—अन्धकार, चहुँओर सूचीभेद्य अन्धकार।

और जब मैं उस अन्धकार में समाने-सी लग गई, तब किसी के मधुर स्पर्श से सिहरकर स्थिर हो रही। वह आये थे—उस अँधेरी में वह चुपके-चुपके आये थे।

"ललिता, चलो।"

"मैं ? किन्तु कैसे ?"

"कैसे ? फिर नहीं भी क्यों ?" जरा तप्त होकर बोले थे।

"ठहरो, मैं पहले अपने से निपट लूँ।"

"यह निपटना कब तक चलेगा ? क्या तुम नहीं जानतीं कि तुम्हारे बिना मेरे दिन नहीं कट रहे हैं ?"

चुप रही मैं, चुप मुझे रहना ही पड़ गया।

निपट लूँ मैं अपने साथ। मेरे खेल के साथी और कदाचित् जीवन के भी साथी वह थे, एक ओर व्यग्र बाहें बढ़ाये और दूसरी ओर थे मेरे बन्धन।

उस दिन यदि मैं उनकी व्यग्र बाँह और शायद अपने अधीर चरणों की ममता करती, उनका सम्मान रखती, तो माता-पिता व्यथा पाते। वह बन्धन कटा।

और अब ? किन्तु यह छोटा सुरेश किसके सहारे जियेगा ? और तब इस दुनिया से बहिष्कृता के साथ वह रह भी कैसे सकेंगे ? एक दुनिया से निकाली हुई के साथ सुरेश का—

कह उठे वह—"जब तक जी चाहे, निपट लो। और इस गरीबी के साथ भी युद्ध कर लो। जैसी तुम्हारी मर्जी।" बोले—कहने लगे वह—चुपके-चुपके—"दुनिया के साथ तुम निपटने बैठी हो तो निपट लो, किन्तु मेरे साथ भी निपटना है न ?"

और बस—जैसे चुपके-चुपके वह आये थे वैसे चले भी गये। और तब मैं उस अन्धकार को हृदय-शरीर में लपेटे हुए बैठी रह गई।

रात की बेला चल चुकी थी, भोर के प्रकाश ने मेरे रूखे बालों से घिरे मुख पर चेतना का प्रलेप लगा दिया। केसर-गन्धित समीर मेरे कानों में लगकर एक विचित्र सन्देश सुनाने लग गया। चौंक-चौंककर,

रोमांचित मैं, भूली-बिखरी मैं जाग पड़ी और तब घर की ओर लौट पड़ी थी।

वह पड़ा था—प्रतिपदा के चाँद की तरह अनुज्ज्वल, असुन्दर, अशोभन-सा पड़ा था छिन्न-भिन्न शय्या पर मेरा छोटा-सा सुरेश।

फिर डायरी लिखूँगी कैसे ? आँसू से अन्धी जो हो रही हूँ न ?

(२)

ललिता की डायरी से—

१९३९—दीपावली मध्य रात्रि। तो रात्रि भी आज ही की तरह दीप-खचित थी। केवल मेरी झोपड़ी के चहुँओर था अन्धकार का कुण्ड।

चली गई वह रात्रि—जगत् की थाली में नव-जीवन की शक्ति भरकर, भारत के ललाट पर जय-दीप का टीका लगाकर।

मैं ? केवल मैं रह गई अचूकी, नित्य के अन्धकार में सनी, नित्य की भिखारिन। मेरी ओर उसने लौटकर भी न देखा और न मेरे उस छोटे सुरेश की ओर। क्यों—शायद इसलिए कि जगत् की एक रात्रि थी वह और शायद जगत् की पद्धति का अनुसरण करना ही उचित समझा हो उसने।

और मैं ? तो जगत् की एक मैं भी हूँ न ! होगा कोई रहस्य इसमें। सुरेश के ज्वर-तप्त नेत्र वैसे ही स्तिमित होकर रह जाते। मुख की रेखाएँ यातना से स्फीत हुआ करतीं और मैं बीड़ी की टोकरी लिये सन्ध्या की छाया में वैसी ही निकल जाती। प्रातः-सन्ध्या मन्दिर-द्वार में नित्य पहुँच जाती। सिक्त-वसन से जल वैसे ही झरा करता, मन्दिर का पुजारी सम्मान से वैसे ही होम-कुण्ड की राख चुटकी भर देता, सब कुछ मेरे लिए एक-सा रहा आता।

मेरी ओर न देखा उस रात ने और न इस रात्रि ने ही देखना चाहा। आई है यह भी दीपों का हार कर में थामे, खुशी की बाढ़-सी आई है

यह रात्रि, और धीरे-धीरे बढ़ती चली जा रही है—हिमालय-शिखर की ओर प्रातःसखा से मिलने के लिए।

प्रथम प्रहर के शेष श्वास में अन्धकार झुक पड़ा था मेरी कुटिया में। मर-मर ध्वनि शुष्क पत्रों में नूपुर-ध्वनि करते हुए निःशब्द गति से आए वह मेरी उस कुटिया में।

फुस-फुसाकर कहा था उन्होंने—"ललिता, अब यह देरी कैसी ?"

चकित लोमकूपों से दृष्टि प्रसारित कर देखना चाहा मैंने। देख पाई थी केवल अन्धकार के स्तरों में प्रेतिनी के निविड़, कुञ्चित, काले केशों की राशि। मृदु स्वर में बोले थे वह—"जवाब न दोगी ललिता ?" मृदु गुंजना-सी गूँज उठी थी मैं—"अपने से तो निपट लूँ।" और तब वह निपटना ?—पड़ोसिन की सादर अभ्यर्थना—गुंजरित हो पड़ी थी—उस निपटने की बेला में और वंश का एक अचूक गर्व।

"निपट लूँ—निपट लूँ।" मधुमक्खी-सी गुनगुनाने लगी थी मैं। निराश व्यथा की एक आह। फिर वह चल पड़े थे निःशब्द गति से।

प्रथम प्रहर कह न पाया था और वह सुरेश चन्द्रमा से क्षीण चीत्कार कर उठा था—"दीदी ! चला मैं। जरा-सा उजेला था मिनट-भर, नहीं-नहीं, पल भर के लिए जरा-सा उजेला, एक क्षीण दीप प्रकाश क्या नहीं दिखला सकती हो मुझे तुम दीदी ?" मेरा जी हाहाकार से भर उठा था। चीत्कार कर कहने का जी हो रहा था—तो वे निपटनेवाले कहाँ हैं, जिन सबसे निपटते-निपटते मैंने इस बच्चे को दरिद्रता में पीस डाला ? जो कि पुष्टिकर भोजन से, औषधि-पथ्य से कदाचित् जीवित रह सकता था और कदाचित् दुनिया के मध्य में उन्नत मस्तक से खड़ा भी हो सकता था उसकी आयु को इस प्रकार निःशेष कर देनेवाले वे निपटनेवाले कहाँ हैं ? कहाँ-कहाँ ?

और मैं ? तो इसलिए स्वयं मैं भी दोषी नहीं ? निपटना कैसा और है भी निपटना किससे ? निपट तो मैं अपने ही साथ रही थी न ?

नहीं भी कैसे ? निपटना यदि विश्व के साथ है, तो कहा जाय, किन्तु निपटनेवाली जो मैं ही हूँ, इस गम्भीर सत्य को भूलूँ कैसे ?

अपने-आपके साथ चाहे मैं कुछ भी करूँ, किन्तु इस बच्चे की आयु शेष कर देने का अधिकार भी मुझे नहीं—

"दीदी, जरा-सा उजेला।"

"उजेला ? सुरेश माँगता है उजेला। दुनिया कालिख की माँग है।"

और तब उन्मादिनी-सी मैंने अपने बालों को हाथ में समेट लिया था। गत सम्पदावशेष वह हाथ के पास मिल गई। मुट्ठी में जितने बाल आये उन्हें काट लिये और दियासलाई जलाकर उस केशगुच्छ में रख दी।

प्रकाश—प्रकाश, एक बार प्रकाश फैल गया। और तब मेरा सुरेश दुनिया के उजेले को आँखों में भरकर एक दीर्घश्वास की तरह सो रहा।

रोती ? किन्तु आँसू थे ही कहाँ ? वह उमड़ा हुआ आँसू न-जाने कब और कौन-से भँवर में पड़कर निश्चिन्त हो गया था—मैं तो उस बात को जान भी न पाई।

मेरा सुरेश उजेला देखना चाहता था न ? उठी और कदाचित् बेसुध हो उठी और पीपल की सूखी पत्तियाँ बटोरकर लाई, झोपड़ी के बीच में रखा और तब दियासलाई लगा दी। उस उजेले में देखा, सुरेश के स्पन्दन-रहित शरीर को। पुकारा और पुकारती ही गई। किन्तु जल्दी तो कर दी न उसने, फिर सुन पाता भी तो कैसे ?

मेरा सुरेश उजेला चाहता था न ? सब कपड़े झोपड़ी के बीच में रखकर उस पर सुरेश को सुलाया, आराम से वह सो रहा था।

भोजन के लिए कुछ भात देती। मेरा सुरेश भूखा था न ?

झोपड़ी का कोना-कोना ढूँढ़ डाला, अनाज का एक दाना भी न मिल सका। फिर मिलता भी कैसे ? दो दिन से मैंने बीड़ी बनाई कब ? उपवास करके तो दिन मेरे कट रहे थे। सूखी पत्तियाँ, डालें बटोरकर रख दीं।

मेरा सुरेश उजेला चाहता था न ?

तो उजेले ही में वह क्यों न समा जाय ?

आग लगा दी उस झोपड़ी में और बाहर खड़ी देखती रही उस उजेले को। और शायद कह भी उठी थी एक बार—यदि घर-घर दीप की माला है, तो मेरे भी घर दीप की होली है।

दीपावली का प्रथम प्रहर कब चल पड़ा, मैं कुछ भी नहीं जानती। और वह दीप की होली कब राख बन गई—सो भी नहीं जानती। सुरेश उजेला चाहता था न ? समा रहा वह उस उजेले में। पड़ी है वह राख।

मध्य रात्रि कब उतर पड़ी वह भी नहीं जानती। आये थे वह अभी-अभी नीरवता के साथ।

"ललिता !"

मेरे हृदय के तारों में ध्वनि भर-सी उठी थी। चकित दृष्टि उठाई थी मैंने। चहुँओर अन्धकार का विराट् राज्य था। और उस पुञ्जीभूत अन्धकार में उनका तप्त श्वास मेरी देह में लग रहा था।

"आ गये तुम ?" आवेश, स्तब्ध, धीरे कह उठी मैं।

'आया न रानी !' उनका स्वर खुशी में उछला-सा पड़ने लग गया था। बोले वह पुनः—"चलो।"

''चलो—चलो।' जैसे मैं जाने के लिए खड़ी हो गई थी।

"अब देर कैसी ?" मुझे रुकते देखकर आहत-स्वर में उन्होंने पूछा।

''जरा अपने से निपट तो लूँ।'' यद्यपि वह स्वर मेरे मन में बहका-सा फिरने लग गया था ? यद्यपि उस स्वर से मेरे मन का प्राण रो पड़ा था; फिर भी मैं कह उठी थी—एक हठी बालिका-जैसी—

"निपटारा तो कर लूँ, कभी देख पाते मेरे चहुँओर के इन बन्धनों को !" और तब मन्दिर की वह घण्टा-ध्वनि गूँज उठी थी और मेरे कानों में और एक स्तोत्र की दो छोटी लाइनें। या—हों दो-चार अस्पष्ट-अस्पृष्ट ध्वनि।

"कब तक मुझे भटकाओगी ललिता ?" वह जरा हटकर खड़े हो गये थे।

"एक दिन मैं मिलूँगी, विश्वास करो। और उस दिन मेरी डायरी के शेष पृष्ठ को तुम्हीं भरोगे। विश्वास करते हो न ?"

उन्होंने गम्भीर विश्वास से सिर हिलाया था।

"चला गया मेरा सुरेश।"

"चला गया वह दुखी बालक ?' दुःख-व्यथा-निपीड़ित स्वर से वह बोले। "गया—मेरा सुरेश। उजेला वह चाहता था न !"

वह चुप रहे—जैसे वह अपने में डूब रहे हों।

"उजेले में वह गया। उजेले में वह सो रहा।"

"उजेले में वह सो रहा ? यह कैसी पहेली रच रही हो ललिता ?"

"उजेले में वह चला गया। पड़ी है वह राख, और पड़ी रहेगी वह राख। जब तक यह दुनिया है, तब तक डली रहेगी यह राख—एक जीवित स्मृति को बिखेरती हुई। मेरी डायरी के अन्तिम पन्नों को—"

"ललिता !"

"चुप-चुप, पड़ी है वह राख। पहले उससे निपटारा तो कर लूँ।"

"चला मैं ललिता !"

नीरव गति से वह चल पड़े थे।

(३)

ललिता की डायरी से—

१९३९—दीपावली का शेष प्रहर।

कबसे मैं यहाँ खड़ी हूँ और खड़ी ही रहूँगी ?

यह अन्धकार धुँधला क्यों पड़ रहा है ?

यह अन्धकार जिसने मेरे लिए अपनी गोद—पूरी पसार दी है—सो ऐसा एक अन्धकार धुँधला क्यों पड़ रहा है ?

और दूर की वह दीप-शिखाएँ निर्वासित-प्राय क्यों हैं? वह रहस्य उज्ज्वल प्रकाश कहाँ?

पड़ी है वह राख। सुरेश उजेला चाहता था न? सो रहा वह राख के गद्दे पर। घर-घर के दीपों की भीड़ में नींद रानी की साड़ी का आँचल खुल पड़ा है। नींद से वह सब झुक रहे हैं। तो इस वक्त मैं ही क्यों न दीपावली की होली जला दूँ? पड़ी है वह राख, तो उस राख पर मैं भी क्यों न अपनी स्मृति छोड़ जाऊँ? मेरे इन रूखे केशों में, मेरे इन फटे-मैले वस्त्रों में, मेरी इन शिरा-उपशिराओं में दीपावली उजियार कर मैं भी क्यों न विश्व को भेंट करती जाऊँ?

पहुँच गई मैं राख के ऊपर। अब देर है केवल दीप जलाने की। और उनसे मिलन? वह मेरा पथ निहारते बैठे होंगे। मेरे निपटने का पथ निहारते होंगे।

तो निपटूँ मैं किससे? चहुँओर के बन्धनों में जकड़ी मैं निपटूँ तो किससे? फिर प्रलय कर बैठूँ क्या? महाप्रलय? एक विप्लव? केवल विद्रोह?

किन्तु यह सब करूँ मैं कैसे? जन्म-जन्मान्तर के बन्धनों में जकड़ी मैं, विद्रोह करूँ मैं कैसे?

पड़ी है वह राख। चहुँओर है एक बन्धना। तो इस विकराल बन्धनों में मैं भी क्यों न एक बन्धन विश्व पर रखती जाऊँ?

भोर की बेला में जब वह—व्यग्र बाहें बढ़ाये आयेंगे तब?—नहीं, जाने दो इस बात को।

अभी—अभी जल उठेगी मेरी दीपावली की होली। और मेरी डायरी के शेष पृष्ठ लिखने का भार उन्हींके हाथों पर रहेगा। सन् १९४० की दीपावली की रात्रि में जब मैं लौटूँगी—इन्हीं दीपमालाओं के साथ तब पढ़ लूँगी—वह—अन्तिम पृष्ठ।

महान् की पूजा

गर्मी की लम्बी छुट्टियाँ थीं। शहर से और शायद गृहस्थी से जी उचट चुका था। इसी ऊबे जी को लेकर मैं एक दिन ट्रेन पर चढ़ गया और पृथ्वी की विचित्रताओं और आकर्षणों को खोजने चल पड़ा। मेरे साथ था मेरा अभिन्न मित्र और सहपाठी सुशील।

कितने ही नद-नदियों को लाँघता, कितने ही ग्रामों और उपत्यकाओं की छाया मन में आँकता, कितने पहाड़-पर्वतों को मन में भरमाता चला जा रहा था मैं ट्रेन की खुली खिड़की से बाहर देखता हुआ। मैं और सुशील, सुशील और मैं, बस, उस लम्बी यात्रा में हमीं साथी थे दोनों एक दूसरे के। ट्रेन की गति मन्द हो चली थी—पहाड़ों के घेरे में। कुछ दूर पर था मेवाड़ पहाड़, वही मेवाड़—जहाँ एक दिन राणा प्रताप ने अपने प्रताप को जीवित रखकर राज्य छोड़ा था—चिरकाल के लिए वही उन्नत, गर्वित पर्वत का उच्च शिखर अब हमारे आँखों के सामने सिर उठाये खड़ा था। गाड़ी उस छोटे स्टेशन पर रुकी। उतर पड़े हम दोनों।

स्नान-भोजन से निवृत्त होकर शहर-भ्रमण करने निकले, तो पहले चल पड़े पर्वत की ओर। सर्वप्रथम जिस दृश्य ने आकर्षित किया वह था एक बरगद का ऊँचा वृक्ष—मेवाड़-पर्वत की छाया में, पहाड़ों से घिरा। उसके पीछे एक पत्थर भी था जिसे घेरकर सहस्रों मनुष्य खड़े थे। कोई-कोई मुट्ठी-भर गुलाल उस पर छोड़ता, जैसे उस मूक पत्थर के साथ वाणीयुक्त प्राणी का होली का खेल होता हो। कोई उसके सामने तलवार रखे नतजानु बैठा था—जैसे वह उस मूक पाषाण से वरदान

माँग रहा हो। ढाल, तलवार और बरछे चमक रहे थे उस वृहत् पत्थर के चारों ओर। जालौन के हारों से पत्थर की काया प्रायः ढँक चुकी थी। चारणगण एक ओर खड़े गत युग की वीर-गाथा को छन्दयुक्त भाषा में गा-गाकर सुना रहे थे। एक मेला-सा लगा था।

"यह कैसा स्वाँग है?" कह उठा मैं।

"स्वाँग नहीं, शायद यह शक्ति की पूजा है।" बोला—सुशील विज्ञभाव से।

"शक्ति की पूजा? किसी पुरानी कथा की पूजा?"

"परन्तु कथा पुरानी होती हुई भी—इसी मनुष्य के एक गुजरे दिन की कथा है न?"

"सो ठीक है। किन्तु इस प्राचीनता की पूजा में सार्थकता ही कौन-सी है?"

"सार्थकता? निर्जीव-प्राय जीव में जीवनी-शक्ति भर देना। गुण का उपासक है न हमारा हिन्दुस्थान। आदर्श को वह सदा सामने रखकर बढ़ता है।"

"ऐसा?"

"प्रमाण है काली की पूजा। और तभी प्रति वर्ष भारतवर्ष में असुर-नाशिनी काली की पूजा हुआ करती है।"

"क्यों?"

"वह शक्ति है—हमारी वास्तविक शक्ति और साहस की प्रतीक। उस पूजन के भीतर कौन-सी मनोवृत्ति छिपी पड़ी है, क्या इस पर भी कभी विचार कर देखा है?"

"जरूरत नहीं। मैं कहता हूँ, प्राचीन को प्राचीन ही क्यों न रहने दिया जाय। जो कल था उसका गर्व करना कैसा? अभी जो है उसी को क्यों न स्वीकार किया जाय? गड़े मुर्दे को खोद निकालने में ही कौन-सा पौरुष है?"

'किन्तु विकास, दुनिया का जो एक सत्य है, वह तो है ही। वह कभी बदलता नहीं है। उसी सत्य को युग-युग में नयी सूझ, नवीन दृष्टि-कोण से सजाया जाता है। वीरता को मैं सत्य ही निकली समझता हूँ। पुरानी सभी चीजें सड़ी भी नहीं कही जा सकतीं। पुराने में जो सत्य, जो जीवन बसा हुआ है, उसकी मैं श्रद्धा करता हूँ। चाहता हूँ उसे अपनाना। अशुभ को त्यागकर शुभ को अपनाना मनुष्य-मात्र का धर्म है। इसीलिए अब भी यह भारतवर्ष वीरता का पुजारी है। इसी-लिए आज भी शक्ति-रूपिणी काली की पूजा के लिए हिन्दुस्थान आतुर रहता है। चलो, जरा पूछें भी तो वहाँ यह है क्या ?'

और फिर मुझे खींचता हुआ सुशील पहुँच गया एक व्यक्ति के निकट। पूछा—'महाशय यहाँ पर क्या हो रहा है ?'

उस व्यक्ति की विस्मय-भरी दृष्टि उठी, और वह वैसे ही बोला—'माधोराव की पूजा।'

किन्तु सुशील जब विस्तारपूर्वक कुछ जानने को हुआ, तब तक वह व्यक्ति भीड़ में मिल चुका था।

निकट ही पीपल के नीचे धूनी रमाये बैठे हुए साधु ने हमें बुलाया। एक शान्त मुस्कान के साथ उसने पूछा—

'तुम दोनों परदेशी हो ? अच्छा, बैठो। जमीन पर नहीं, मृगछाला पर बैठो। जानना चाहते हो उस कथा को ? उस सामने खड़े पर्वत को देख रहे हो न ? वह उस दिन की भाँति आज भी ऊँचे मस्तक से खड़ा है। हाँ, अजेय हो गया है न आज दुनियाँ में ! उस वीर प्रताप के पद-चिह्न आँके अजेय-अमर है न वह ! उसके वातावरण में वीर-रस भरा हुआ है। जो भी उसकी परिधि में आता है, वह वीर बन जाता है। समा रहा है उसमें वीर-रस।

तो वह माधोराव—क्षत्रिय वीर माधोराव नित्य प्रातः-सन्ध्या पर्वत की वन्दना किया करता था। प्रताप के दिन गत हो चुके थे। दुनियाँ

उसे मृत भले ही कहे, किन्तु माधोराव जानता था, राणा प्रताप मृत नहीं, किन्तु समाधिस्थ है—उसी पर्वत पर, चेतक अश्व के साथ।

लोग उसे तब भी राव साहब कहते, युवक, वृद्ध, बालक उस दिन भी उसकी रुग्ण-शय्या के निकट बैठकर गत वीरता की कहानियाँ सुनते-सुनते जोश में भर उठा करते। हाँ, उसी माधोराव से वह सुनते, जिस माधोराव ने अपने यौवन का रक्त बूँद-बूँद कर न्यौछावर कर दिया था देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए, जिसने कि घास की रोटी खाकर महाराणा प्रताप की सेवा की थी—जिसने पर्वत पर वानरों-जैसा जीवन व्यतीत किया था।

राणा प्रताप मृत्यु की गोद में सुप्त थे। किन्तु रह गया था वह वीर—उस वीर-गाथा को सुनाने के लिए। शहर के उस ओर वह आम की बारी जो......उसीमें वह रहता था। वृद्ध, नेत्रहीन, श्वेत-केश, माधोराव। आँखें ? वह उसने देश के चरणों में भेंट कर दी थीं। पड़ गया था वह रुग्ण-शय्या पर और बरसों चली थी उसकी यह व्याधि।

सातों पुत्रों को वह भेंट कर चुका था—देश की स्वाधीनता के लिए। वधुएँ सहमृत हो चुकी थीं। पत्नी स्वर्गवासिनी। बच रहा था वह और कनिष्ठा पुत्रवधू राधा।

बालक, वृद्ध, युवा—सभी प्रातः-सन्ध्या राव साहब को घेरकर बैठ जाते। उस दिन भी ऐसे ही बैठे थे। एक युवक ने पूछा—'तो दादा तुम लोगों ने क्या किया।'

'वही जो क्षत्रिय का—नहीं-नहीं—मनुष्यमात्र का धर्म है। एक-एक वीर ने दो-दो तलवारें हाथ में थामीं और बस दुश्मनों को मार गिराया। उधर मुगल-सैनिक थे बाढ़ की भाँति, इधर राजपूत मुट्ठी-भर। दोनों ओर ऊँचे पहाड़, बीच में पथरीला रास्ता। धन-दौलत दिया था ईश्वर ने मुगलों को, किन्तु पहाड़ और वीर-केशरी राणा प्रताप को उसने राजपूतों के लिए ही छोड़ दिया था। पहाड़ों पर से हम करने लगे

तीरों की वर्षा। और कुछ प्रवेश-द्वार पर अड़कर खड़े हो गये। औ
तभी एकाएक प्रताप का चेतक दुश्मनों के बीच में कूद पड़ा। उस वक्त—

'तुम उनके साथ थे दादा?'

'मैं—हाँ, वह सौभाग्य मुझे मिला था। देखा है तुमने कभ
बिजली को चमकते और मेघ-मालाओं में विलीन होते? बस तो दे
लिया तुम लोगों ने भी उस दृश्य को। प्रताप की तलवार चमक रह
थी, बस इतना ही। आँखों में चकाचौंध छा जाती, उसीके साथ मृ
दुश्मनों का ढेर लग जाता। और उन्हीं मुर्दों पर चेतक अश्व जै
ताण्डव-नृत्य करता रहता। 'मारो-मारो, वह खड़े हैं दुश्मन—' कहते
कहते माधवराव उठने को होता। उस शिथिल-प्रायः देह में जैसे अद्भु
हाथी का बल समा जाता। आँखें लाल हो उठतीं और तब सुनने
वालों की चेतना लौटती। वे उसे बलपूर्वक लिटाते। राधा पहुँच जाती
श्रोताओं की ओर अनुरोध-पूर्ण दृष्टि उठाती, विनय से श्वसुर
कहती—'दादा, वह दिन लौटने ही को है। तुम तब तक स्वस्थ तो ह
लो। नहीं तो तलवार कैसे थामोगे?'

वृद्ध जैसे बात को समझ लेता। फिर शान्त भाव से कहता—बहू
तू बुद्धिमती है। तेरा कहना बिलकुल ठीक है। मैं तब तक जरा दम
लूँ। हमारा देश, हमारा मेवाड़ ले ही कौन सकता है? राजपूतों क
स्वाधीनता छीननेवाला है ही कौन दुनिया में। हमारे राणा··'औ
बहू, सुना है तुमने? लड़ाई चल रही है?'

'लड़ाई? हाँ, वह चल तो रही है।'

'हाँ हाँ, सो तो मैं जानता हूँ। फिर कल की खबर क्या थी?'

'हमारी ही जीत की खबर है।'

'और आज?'

वधू मिथ्या का आश्रय लेती, कहती—'जीत ही।'

'और राणा?'

'अब उनका स्वास्थ्य भी सुधर रहा है।'

सो उस दिन—उस एक दिन की बात। प्रातः का प्रकाश भली भाँति फैल भी न पाया था, किन्तु माधोराव के शरीर में शक्ति नहीं थी, न पलकों में नींद। न-जाने कैसी एक घबराहट का अनुभव कर रहा था वह उस दिन। और राधा विषाद-खिन्न मुख से पिता-तुल्य श्वसुर का मुख निहारती बैठी कह रही थी—'दादा, अपनी कबरी गाय इन दिनों कैसी मोटी और चिकनी हो रही है? बछड़े को तुम अब खिलाते भी तो नहीं हो।'

'हूँ' अनमना हो रहा था तब माधोराव।

'दादा, बुलाऊँ न उसे?' राधा उसे बहलाने लगती।

'हूँ।'

चारों ओर से वह जय-जय की ध्वनि बढ़ी चली आ रही थी—इसी ओर। वधू ने कान लगाकर सुना उस ध्वनि को।

तब अपनी व्यस्तता को छिपाती हुई कहने लगती—'दादा, रामायण पढ़ूँ?'

आज्ञा की प्रतीक्षा किये बिना ही वह उठी, पोथी लेकर लौटी और पास ही चिल्ला-चिल्लाकर रामायण पढ़ने लगी।

'ठहरो, ठहरो।' बीच में माधोराव ने रोका। उत्कर्ण होकर वह कुछ सुनने लगा।

'हाँ, सो दादा, यह सीता की उक्ति कैसी भली है, देखो—'

वह गा-गाकर पढ़ने लगी।

'बेटी-बेटी!'

'दादा!'

'सुनो-सुनो, यह जय-जयकार कैसा?'

'कहाँ! वह तो कुत्ते भौंक रहे हैं, सुनो—'

'ठहरो, यह बताओ, कल के युद्ध की खबर क्या है?'

'जीत-ही-जीत।'

'अपनी ?'

'अपनी ही।' वधू जोर के साथ बोली।

माधो तब मूँछों पर हाथ फेरता कह उठा—'ऐसा ही होने को था।'

फिर पढ़ने लगी राधा रामायण। और जब चिल्लाते-चिल्लाते उसका स्वर प्रायः बन्द होने को हुआ, तब—शत-सहस्र कण्ठ से जय-जयकार की ध्वनि ने चारों दिशाओं को स्तम्भित कर दिया—'दिल्लीश्वर की जय!'

जय-ध्वनि ने उस वृद्ध माधो में जैसे युवक का रक्त बहा दिया। वर्षों से जो उठकर बैठने की शक्ति से रहित था—वही माधोराव अब मोर्चा लगी हुई तलवार खींचकर उस जन-समुद्र में कूद पड़ा। निकट में बैठी वधू भी यह तब जान सकी, जब कुटीर के बाहर माधो का स्वर गरज उठा—'माधोराव अभी जीवित है विधर्मी, पहले उससे तो निपट लो।'

और देखा तब एक विशाल विस्मय से उन विपक्ष के वीरों ने—एक अस्थि-चर्म-सा शरीर का ढाँचा तलवार से शत-शत दुश्मनों पर वार करता हुआ विद्युत्-वेग से उस जनसमुद्र में लपक रहा है।

पल-भर—पल-भर शत्रु की सेना स्तब्ध रही, शायद श्रद्धा से, शायद सम्भ्रम और कदाचित् विस्मय से—हो सकता है, उन्होंने वीरता की ही सम्मान-रक्षा की हो।

परन्तु एक ही वीर कब तक जूझता ? वक्षःस्थल में विद्ध शत्रु के तीर को खींचकर फेंकते हुए माधोराव ने एक बार निराश व्यथा से अपनी अन्धी आँखों को फाड़कर देखने का प्रयास किया, शायद अपना साथी उसने कोई भी न पाया या पाया ही हो।

मुगल-सेनापति का स्वर भ्रम से भर उठा—'वीर शिरोमणि,' अब

खामोश रहो। बादशाह जीत चुके हैं। और अब तक राणा ने सन्धि-पत्र भी तैयार कर दिया होगा। शान्त हो, शान्त।'

'क्या? नहीं, मेवाड़ अभी वीर-शून्य नहीं है। जब तक एक भी मेवाड़वासी जीवित है, तब तक दिल्लीश्वर की जीत एक झूठी कल्पना ही समझो सेनापति!'

'लेकिन इस हाड़ के ढाँचे पर तलवार उठायेगा ही कौन माधोराव?'

'किन्तु इस ढाँचे पर का चमड़ा-मास तो केवल सजावट के लिए है न! असली तो ढाँचा ही है। यदि किसी राक्षस ने अपनी तृप्ति के लिए, सन्तोष के लिए उसे चूस लिया हो, तो क्या हुआ सेनापति! ढाँचा अभी बाकी है। उसे लेनेवाला क्या कोई भी नहीं है—'

कहते-कहते माधोराव का अशक्त शरीर वहाँ पर लुढ़क रहा—उन्हीं शवों पर। रक्त की नदी में वह सो रहा। और तब एक अश्व विद्युत् गति से आया, उस पर अवगुण्ठनवती कोई नारी थी। शायद वह मेवाड़-लक्ष्मी रही हो। माधोराव का शरीर उठाकर वह अल्प भर में अदृश्य हो गया। यही तो वह जगह है, जहाँ पर दूसरे दिन माधोराव को समाधिस्थ पाया गया था, और वह अश्व उस पर छाया करता खड़ा पूँछ के द्वारा मक्खियाँ हटा रहा था। इसी पत्थर पर वीर ने अन्तिम श्वास छोड़ा था।'

इतना कहकर साधु चुप हो रहा।

'आप रात को भी यहीं पर रहते हैं?' कुछ देर बाद सुशील ने पूछा।

'मैं?'—साधु सिहर उठा—'रात को यहाँ पर कोई रह भी सकता है?'

'क्यों महाराज?'

'नहीं, कोई नहीं रह सकता। कितने ही पथिकों के प्राण उस घोड़े के पैर-तले निकल गये।'

'अश्व ?'

'हाँ, अश्व। वह अश्व अब भी रात के सन्नाटे में इस जगह को मथता हुआ फिरता है—आधी रात में।'

'अब तक ?' एक निविड़ विस्मय से पूछा मैंने।

'अब तक वीर-शून्य अपनी पीठ की जलन से वह चीत्कार करता रहता है, पूरी रात।'

'अब भी ?' फिर भी अपने-आप पूछ उठा मैं। सुशील स्तब्ध, समाहित था।

'क्यों नहीं ? उसकी पीठ खाली जो है।'

'तो…?' मैं शायद उस वक्त बेसुध था।

'उसका चीत्कार तभी बन्द हो सकता है, जब कि फिर अपनी पीठ पर वह वीर को बैठा पाये।'

'सुना है उस चीत्कार को आपने ?'

'नित्य ही सुना करता हूँ। खटपट-खटरट करता अश्व चिल्लाता फिरता है।'

'अगर कोई भी यहाँ रह नहीं पाता, तो आप कैसे रहते हैं ?'—एक वकील की तरह मैंने पूछा।

'वह है मेरी कुटिया—उस पहाड़ पर।'

आँख उठाकर हमने देखा—उस ओर पहाड़ की पर्णकुटी रही।

वहाँ से लौटते वक्त जब सुशील उस पत्थर के सामने केमरा खोलकर खड़ा हो गया, तब मैं जी खोलकर हँस पड़ा। परन्तु जब मासिकों के पृष्ठ पर उस पत्थर के फोटो को मैंने देखा, तब सचमुच ही स्तब्ध हो जाना पड़ा। क्या सुशील को वास्तव में उन्माद तो नहीं हो गया है ?

बुलबुल

सृष्टिकर्ता के इन्द्रजाल में मानव ने नेत्र-पल्लव पसारे। पाया एक बिखरा-सा जंगल। जंगली पशुओं के मध्य में अपने को पा वह मचल उठा। वह थी पहली खुशी।

वह आगे चल पड़ा, पथ-प्रदर्शक की भाँति। आगे उसका प्रयोजन, पीछे वह आदिम मानव। खोज निकाला मन के प्राण ने कटार, साबर आदि को; कट चले पेड़ के पौधे। असुर का बल हाथ में लिये जुटा मानव अपनी सुख सुविधा में।

धर्मात्त मानव, शब्द एक निकल पड़ा कण्ठ से। जंगली हवा खा मन का आनन्द निकल पड़ा गान के रूप में। वह थी दूसरी खुशी। तब नदी के तट पर ऋषि-मुनियों का मेला—वेद-मन्त्र में संगीत की झंकार, कान लगाकर सुनता मानव, भर लेता अपने कण्ठ में। वह थी तीसरी खुशी।

परन्तु एक दिन भर उठती उसके नींद-भरे थके-से पल्लवों में दर्दीली आह। उस गान में विश्व की खुशी कहाँ? पंगु, अर्द्धांग-सा वह गान, वही गान जिसे उसने मन के बोल में पाया, जँगली हवा में पाया, वेद-मन्त्र से चुना। अंगहीन-सा वह स्वर; कहाँ—वह विश्व की खुशी कहाँ?

प्रभात के प्रदीप में मन्दिर, चन्दन, उथल-पुथल। बबूल की डाली पर गा उठती बुलबुल विश्व-वन्दना-गान। चकित, त्रस्त, मोहित विश्ववासी कान लगाकर सुनते। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष के नीचे एकत्र होते। ऋषि-मुनियों का आसन टलता, वृक्षों के निकट एक खासा मेला लग जाता। वह थी मानव की चौथी खुशी।

'यह स्वर-झंकार, यह यमक, गिटकरी, मूर्च्छना, दर्द आदि—यह सब कहाँ एक छोटी चिड़िया ने पाया है ?'—कोई ऋषि पूछता किसीसे।

गम्भीर मुख नारद का स्वर ध्वनित होता—'स्वर्ग का सुधा-भाण्ड भर दिया न सरस्वती ने इसके कण्ठ में।'

'क्यों ? सो क्यों ?'

'संगीत को पूर्णाङ्ग करने के लिए।'

'कैसा यह अन्याय है—श्रेष्ठ प्राणी मानव की अवहेलना कर बुलबुल को ऐसा महत् दान देना।'

नारद मुस्कराये—'मानव में ऐसी पावनता कहाँ ? विश्व के प्रेम का वितरण कर सकती है यह बुलबुल ही। भर लो—भर लो अपने कण्ठ में, मन में इस स्वरजाल को, राग-सप्तक को। पूर्णाङ्ग करो संगीत-विद्या को।' गा उठती बुलबुल। विस्मित प्रफुल्लता से उस तान को सुन मानव के मन का अभाव जाता रहता। वह थी पाँचवीं खुशी।

सिहर-सिहरकर मानव उस गान को सुनता। शत-शत कण्ठों से पुकार उठती—'मैं तेरा पुजारी बुलबुल, मैं तेरा पुजारी।' मुसकराती वह स्वर्ग की सुषमा कण्ठ से एक-सी प्रवाहित होती। वृद्ध ऋषि बाँह बढ़ाते। मानव के मन में उसे पाने की तीव्रता समाती। वह थी छठी खुशी।

'ऊपर नहीं—धरती पर, हम मानवों के बीच में आओ।' कहते विश्ववासी। वह जरा हँसती।

'मीठी तानवाली बुलबुल,' देखते-देखते कहने लगते ऋषि—'ऐ सुन्दर गानवाली चिड़िया, उस काँटेदार बबूल पर बसेरा क्यों डाला है ?'

'क्यों, हानि ही क्या है ?'

'वह चमेली की झाड़ी, माधवी आदि तुम्हारे बसेरे के योग्य हैं, बबूल नहीं।'

'नहीं।'

'देखो, वे कितने सुन्दर हैं।'

'नहीं।'

'उस चमेली पर तुम्हारा गान-गन्ध मुखरित, चिरजीवित होकर रहेगा; समझीं नादान बुलबुल! देखो, लो इसकी गन्ध।' एक प्रगाढ़ प्रलोभन छोटी चिड़िया के बिन्दु-परिमित मन को शायद एक बार आन्दोलित करता, शायद नहीं कर पाता; दृढ़ता से उसका स्वर भर उठता—'नहीं।'

'देखो, हम सब हैं तुम्हारे पुजारी, उतरो उस बबूल पर से।'

'नहीं।'—वह प्रभाती छेड़ देती। मानव के मन में एक विचित्रता समाती। वह थी सातवीं खुशी।

'परन्तु उस काँटे से जो क्षत-विक्षत हो जाओगी तुम!'

'काँटे?' इस बार चिड़िया गम्भीरतर होती—'यह जो हैं काँटे, दृढ़, अभग्न, विश्वास के जीवन हैं। मेरा आश्रय यही हैं। विश्व की गन्दगी से बचाते हैं न यही काँटे? जाओ, मेरे गान का समय टला जा रहा है। विश्वव्याप्त यह दावानल, शान्ति के प्रलेप का है यह क्षुद्र प्रयास।'

व्यंग्य से पककेश ऋषि हँसते—'एक क्षुद्र प्रयास से विश्व की अशान्ति पर शान्ति का रवि उज्ज्वल करना, यह मात्र उन्माद का प्रलाप है।'

'परन्तु बिन्दुसम पलों के जुड़ने से कभी चौबीस घण्टे का एक दिन-रात भी बन जाता है।'

गा उठती वह भैरवी। अपने को भूल जाता मानव। वह थी आठवीं खुशी।

'सुनो, सुनो।' पुकार उठता इस बार मानव।

'क्या?'

'यह स्वर्ग की सुधा तुमने कहाँ पाई ?'

वह उत्तर न देती। उस मौन में मिल जाती वह नवीं खुशी।

'उतरो।' उठा आह्वान वृक्ष के नीचे।

'नहीं।'

'वह लहू का दाग काँटे से ?'

'वही तो है पुरस्कार! वह न मिटनेवाली देन बबूल की।' कहती चिड़िया शान्त आनन्द से।

देखता मानव उस लाल ईंगुर की-सी बिन्दी को। लाल रंग से जी उसका मतवाला होता। वह था दसवीं खुशी।

'कठोर, क्षुद्र जीव।'

'किन्तु वास्तविकता का अंग ही है कठोरता। जाओ, गान को पूर्ण करने दो।'

गा उठती वह अपूर्व गान। मोहित होता विश्व। जीव-जन्तु में एक अनोखा पुलक समाता। मानव रोमाञ्चित हो उठता। भर लेना चाहता वह उस स्वर-लय-तान को अपने कण्ठ में; परन्तु भर न पाता।

वन के गहन प्रान्त में मानव जाकर बैठता। बुलबुल का गान वायु-तरङ्ग में बहता रहता।

गम्भीरता से सोचता मानव विहङ्ग-कण्ठ की उस स्वर्ग-सुषमा को अपने में भर लेने को बात। उसकी सूझ क्रमशः गम्भीर अनुभूतियों में सूक्ष्मतर होती। एक हर्ष-उच्छ्वास से प्राण पूर्ण होते। वह थी ग्यारहवीं खुशी।

सहसा मानव पूर्णता से भर उठता और तब मन-प्राण से वाद्ययन्त्र बना चलता।

एक प्रातः वेला में बज उठती मानव के हाथ में वीणा।

मानव की सूझ, मानव की पराकाष्ठा। पूर्णाङ्ग हो जाता सङ्गीत।

बबूल पर बैठी बुलबुल मुसकराती—'यह चोरी कैसी ?'

'चोरी नहीं, मानव की सूझ कहो बुलबुल।'

'सूझ ? परन्तु मेरे कण्ठ से स्वर-सप्तक की मूर्च्छना ही तो है न उस वीणा में मूर्त ? क्यों तुमने मेरी वस्तु की चोरी की ?'

'गान को पूर्णाङ्ग करने के लिए।'

'अहङ्कारी बुलबुल !' पुकारता प्रभात की भैरवी में मानव। बज उठती वृक्ष के नीचे वीणा। गा उठती वृक्ष पर बुलबुल।

वह थी मानव की बारहवीं खुशी।